श्रौत 'पशुबन्ध' यज्ञ और पश्वालम्भन

श्रौतयज्ञों के सम्बन्ध में विशेष जानने के लिये 'श्रौतयज्ञ-मीमांसा' (संस्कृत-हिन्दी) तथा 'अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त श्रौतयज्ञों का संक्षिप्त परिचय' नामक पुस्तकें देखें। इनमें इस सम्बन्ध में विस्तार से विचार किया गया है। दोनों पुस्तकें 'रा० ला० क० ट्रस्ट' से प्राप्य हैं।

प्रस्तुत विषय पर हमने एक लेख इक्कीस वर्ष पूर्व 'श्रौतयज्ञ और पश्वालम्भ' शीर्षक से लिखा था (द्र०—वेदवाणी वर्ष ८, अङ्क १, कार्तिक मार्गशीर्ष २०१२)। उसे ही परिष्कृत और परिवर्धित करके उपरिनिर्दिष्ट शीर्षक से नये रूप में छाप रहे हैं। मूल विषय और परिणाम तो लेख का वही है, जो इक्कीस वर्ष पूर्व लिखा था। परन्तु इस सुदीर्घ काल में जो नई उपलब्धियां हुईं, उनको सम्मिलित करने के लिए इसे पुनः तैयार किया है।

इसके साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि इस लेख से सम्बद्ध कुछ आवश्यक विषय, जिसकी पृष्ठभूमि पर यह लेख आधृत है, प्रस्तुत संग्रह में मुद्रित 'वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं की ऐतिहासक मीमांसा' शीर्षक निबन्ध में समाविष्ट हो चुका है। उसका यहां पुनः पिष्टपेषण नहीं करेंगे। पाठकों से निवेदन है कि इस लेख को पढ़ने से पूर्व 'वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं की ऐतिहासिक मीमांसा' शीर्षक लेख समग्ररूप में (पृष्ठ ६५ से १३८) पढ़ लें, तो अच्छा होगा। अन्यथा प्रस्तुत संग्रह के पृष्ठ ७२ से ९७ तक 'याज्ञिक प्रक्रियानुसारी वेदार्थ' प्रभाग के अन्तर्गत प्रकरण अवश्य देख लें।

यज्ञ की परिभाषा एवं यज्ञों के भेद

यज्ञ की परिभाषा—श्रौतयज्ञों के मूल स्वरूप को समझने के लिये आवश्यक है कि हम श्रौतसूत्रकारों के यज्ञ के पारिभाषिक अर्थ को समझ लें। श्रौतसूत्रकारों ने यज्ञ की यह परिभाषा लिखी है—'द्रव्यं देवता त्यागः' (का० श्रौत १।२।२)। इसका अर्थ है—किसी देवता को उद्देश्य करके किसी द्रव्य का त्याग करना=देना[1]। यज्ञ

१. त्याग का अर्थ है—'बुद्धिपूर्वक किसी को कोई वस्तु समर्पित करते हुए उस वस्तु से स्वस्वत्व की निवृत्ति करना। और जिसे वस्तु दी जा रही है, उसका उस

में देवतोद्देश से हव्य द्रव्य का त्याग यजमान प्रायः अग्नि में करता है। परन्तु त्याग =प्रक्षेप कहां करे इसका निर्देश पारिभाषिक अर्थ में न करने से 'देवतोद्देश से द्रव्य का त्याग' इतना ही द्रव्य का तात्पर्य समझना चाहिये। इसीलिये सोमयागों के अन्त में अवभृथ होम जल में किया जाता है—अप्सु जुहोति (का० श्रौत १०।८।२६), और सोमक्रय के लिये सोमक्रयणी (=जिसे देकर सोम खरीदना होता है) गौ को सोम-विक्रयी के समीप ले जाते समय गौ का सातवां पैर जहां भूमि पर पड़ता है, उस स्थान में घृताहुति दी जाती है—सप्तमे पदे जुहोति (तै० सं० ६।१।८)। इसी प्रकार वृषोत्सर्ग यज्ञ में वृष (=सांड) का प्रजापति (=प्रजननकर्त्ता) देवता के लिए वृषभ पर विशेष चिह्न अङ्कित करके त्याग=उत्सर्जनमात्र होता है।

यज्ञों के श्रौत स्मार्त दो भेद—संहिता ब्राह्मण और कल्पसूत्रों (=श्रौत-गृह्य-धर्मसूत्रों) में जितने प्रकार के यज्ञों का विधान उपलब्ध होता है, वे यज्ञ श्रौत स्मार्त भेद से दो प्रकार के हैं। श्रौतयज्ञ वे कहाते हैं, जिनका श्रुति (=संहिता=ब्राह्मण[1]) में साक्षात् विधान होता है। स्मार्त यज्ञ उनको कहते हैं, जिनका विधान गृह्यसूत्रों एवं धर्मसूत्रों में मिलता है। गृह्यसूत्रों में प्रधानतया संस्कार और गृहस्थ उपयोगी कर्मों का विधान किया है, और धर्मसूत्रों में मानवसमाज के विभाग एवं विभागशः विशिष्ट कर्तव्यों का निरूपण किया है। यतः गृह्य और धर्मशास्त्रोक्त कर्मों का श्रुति में साक्षात् विधान नहीं मिलता, अतः ऋषियों ने श्रुति के अन्यार्थपरक वचनों में इन कर्मों का संकेत उपलब्ध करके इनका विधान=स्मरण किया है।[2] इसलिये ये गृह्य और धर्मसूत्र 'स्मृति' कहाते हैं। श्रुति और स्मृति का कदाचित् विरोध होने पर श्रुति को प्रमाण माना जाता है, स्मृति प्रमाणार्ह नहीं मानी जाती है—विरोधे त्वनपेक्षं स्यादसति ह्यनुमानम् (मीमांसा १।३।२)।

वस्तु पर स्वत्व प्राप्त कराना।' 'स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकं परस्वत्वापादानं त्यागः।' इस अभिप्राय के अनुसार 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्' (यजु० ४०।१) का अर्थ होगा—'उस चराचर के ईश द्वारा जो भोज्य पदार्थ प्रदत्त हैं, उन्हीं का भोग करो। अन्य के धन=भोग्य पदार्थों की आकांक्षा मत करो।'

१. जैसे याज्ञिकों की मन्त्र और ब्राह्मण की 'वेदसंज्ञा' और 'आम्नाय संज्ञा' पारिभाषिक हैं (द्र०—वेद-श्रुति-आम्नाय-संज्ञा-मीमांसा, पूर्व पृष्ठ १३९, १५३; हिन्दी में पृष्ठ १५६, १७५), उसी प्रकार उनके मत में श्रुतिसंज्ञा भी मन्त्र ब्राह्मण की पारिभाषिक है।

२. द्र०—'वेदानां महत्त्वं तत्प्रचारोपायाश्च' लेख, पूर्व पृष्ठ १९-२०, हिन्दी में पृष्ठ ४८-४९।

इस प्रकार श्रौत-स्मार्त भेद से पशुबन्ध यज्ञों के भी दो भेद हैं। यहां हम श्रौत पशुबन्ध के सम्बन्ध में ही विचार करेंगे। क्योंकि श्रौतयज्ञ ही मुख्य हैं।

यज्ञों के पुनः तीन भेद—नित्य नैमित्तिक और काम्य—श्रौत और स्मार्त दो भागों में विभक्त यज्ञों के पुनः प्रत्येक के तीन भेद हैं—नित्य, नैमित्तिक और काम्य। नित्य यज्ञ वे कहाते हैं, जिनके यथाकाल नियमतः करने का विधान है। याज्ञिकों के मतानुसार इनके करने में कोई फल नहीं होता, परन्तु न करने में प्रत्यवाय (=पाप) होता है। हमारा विचार है कि नैत्यिक कर्म निष्काम भाव=केवल कर्तव्य बुद्धि से क्रियमाण होने से इनका फल आत्मशुद्धि-पूर्वक मोक्षप्राप्ति है। दूसरे नैमित्तिक कर्म वे हैं, जो गृहादि के दाह होने, भीषण भूकम्प आने, अतिवृष्टि आदि निमित्त होने पर किये जाते हैं। काम्य कर्म वे हैं, जो ग्राम-प्राप्ति पशुप्राप्ति धनप्राप्ति यशः-प्राप्ति आदि की कामना से किये जाते हैं। इस प्रकार विभिन्न कामनाओं के लिये भिन्न-भिन्न पचासों यज्ञ कहे गए हैं। इन विविध कर्मों का त्रेता युग में विस्तार हुआ—'तानि त्रेतायां बहुधा संततानि' (मुण्डक उप० १।२।१)।

पुनः तीन भेद—उक्त तीनों प्रकार के श्रौतयज्ञों के पुनः तीन भेद होते हैं। ये भेद यज्ञीय पदार्थों के भेद के कारण होते हैं। इनमें प्रथम वे यज्ञ हैं, जिनका द्रव्य मानव के भोज्य पदार्थ हैं। यथा—यव व्रीहि तिल गोधूम दुग्ध दही घृत आदि। इन्हें पाकयज्ञ कहते हैं। क्योंकि इनके हव्य द्रव्य पुरोडाश चरु आदि को अग्नि पर पकाया जाता है। दूसरे वे यज्ञ हैं, जिनका द्रव्य सोम अथवा तत्स्थानीय पूतिका (तृणविशेष) होता है। इन्हें सोमयाग कहते हैं। तीसरे वे यज्ञ हैं, जिनका द्रव्य अज आदि पशु होता है। इनको पशुयज्ञ न कह कर पशुबन्ध कहा जाता है। इनके पशुबन्ध नामकरण में जो रहस्य है, वह आगे स्पष्ट होगा।

प्रकृत निबन्ध का विषय—ये पशुबन्ध याग ही हैं। इन्हीं के विषय में शास्त्रों में विप्रतिपत्ति उपलब्ध होती है। मध्यकालिक एवं अर्वाक् कालिक याज्ञिक पशुयज्ञों में पशु को मारकर उसके अङ्ग-प्रत्यङ्गों का होम करते रहे, वा मानते रहे। वैष्णव मतानुयायी पशु के स्थान पर पिष्टपशु बनाकर उसके अङ्ग-प्रत्यङ्गों से याग का विधान मानते हैं। महाभारत आदि इतिहासग्रन्थों के अवलोकन से विदित होता है कि प्राचीन ऋषियों का यह मत था कि वेद में प्रयुक्त अजादि शब्द पशुवाचक नहीं हैं, अपितु व्रीजविशेष के वाचक हैं।[1]

---

१. बीजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वै वैदिकी श्रुतिः। अजसंज्ञानि बीजानि छागं नो हन्तुमर्हथ॥ महा० शान्ति० ३३७।४॥ ये अजसंज्ञक बीज तीन वर्ष से अधिक काल के

यज्ञों के सम्बन्ध में ज्ञातव्य विषय

प्रकृत पशुयज्ञ विषय पर पूरी तरह विचार करने के लिये यह आवश्यक है कि प्रकृत श्रौतयज्ञों का प्रयोजन, इनकी उत्पत्ति का काल, विकास, तथा यज्ञों में समय-समय हुए विविध परिवर्तन आदि विषयों पर पहले विचार करना उचित है। उसके पश्चात् ही पशुयज्ञ के सम्बन्ध में विचार करने में सुविधा होगी।

इन विषयों पर हम 'वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं की ऐतिहासिक मीमांसा' लेख में लिख चुके हैं। अतः पाठकों से निवेदन है कि वे पूर्व पृष्ठ ७५—'यज्ञों की कल्पना का प्रयोजन'; पृष्ठ ७७—'यज्ञों की कल्पना का आधार; पृष्ठ ७७—'यज्ञों की आधिदैविक सृष्टियज्ञों से तुलना' आदि प्रकरण देख लें। इन प्रकरणों से भले प्रकार व्यक्त हो जाता है कि श्रौत द्रव्यमय यज्ञों की कल्पना सृष्टिरूपी महायज्ञ के एक-एक देश को समझाने के लिए की गई है। इसलिये इनमें और सृष्टियज्ञ के अवयवरूप कार्य में बहुत समानता है। इनका क्रम भी सृष्टियज्ञ का ही अनुगमन करता है। यथा—

१. पृथिवी की सलिलावस्था से औषधिवनस्पति के सर्जन, और वनस्पतियों के संघर्ष से पृथिवी के पृष्ठ पर प्रथम अग्न्युत्पत्ति का अन्वाख्यान, अग्न्याधान के अन्तर्गत वेदिनिर्माण, और अरणियों के मन्थन से अग्न्युत्पत्ति द्वारा किया है (द्र०—पूर्व पृष्ठ ७८-८२)।

२. सृष्टि में प्राणियों के अनुभव में आनेवाले क्रमशः काल-विभाग हैं—दिन-रात, शुक्लपक्ष कृष्णपक्ष, तीन प्रधान ऋतुएं, उत्तरायण दक्षिणायन, एवं वर्ष। इन सृष्टयवयवगत परिवर्तनों वा परिस्थितियों का व्याख्यान करनेवाले क्रमशः यज्ञ हैं—सायं प्रातः का अग्निहोत्र, दर्श पौर्णमास, चातुर्मास्य, गवामयन, एवं ज्योतिष्टोम (सोमयाग)।

यज्ञों के आधिदैविक व्याख्यान के संकेत

अग्निहोत्र में सायं अग्नि देवता होती है। रात्रि की देवता=द्योतनकर्त्ता=प्रकाशक अग्नि ही होती है। प्रातः सूर्य देवता होती है। दिन में प्रकाशक सूर्य ही

प्ररोहण के अयोग्य व्रीहि और यव थे। द्र०—वायुपुराण ५७।१००,१०१, तथा मत्स्य पुराण १४३।१४॥ स्याद्वादमञ्जरी श्लोक २३ की व्याख्या में त्रिवार्षिक व्रीहि और यव, पञ्चवार्षिक तिलमसूरादि, और सप्तवार्षिक कङ्कुसर्षपादि धान्य 'अज' कहे गये हैं। विशेष इसी लेख में आगे देखें।

होता है। उसके आगे अग्नि विद्युत् आदि सबका प्रकाश मन्द पड़ जाता है। अग्निहोत्र की आध्यात्मिक व्याख्या शतपथ ११।३।१।१४ में देखें।

दर्शपौर्णमास की आधिदैविक व्याख्या शतपथ में ११।२।४।१ से ११।२।७।३३ तक विस्तार से की है। दोनों पक्षों में पन्द्रह-पन्द्रह दिन मिलकर ३० दिन होते हैं। दोनों यज्ञों में भी पन्द्रह-पन्द्रह (=प्रयाजों की ५, अनुयाजों की ३, आघारावाज्यभाग की ४, और प्रधानाहुति ३) आहुतियां मिलाकर ३० आहुतियां होती हैं। कहा भी है -'त्रिंशत्त्वेवाहुतयो भवन्ति।'[1] दोनों पक्षों में पूरे तीस दिन नहीं होते, कभी २९ भी माने जाते हैं। इस पक्ष की उपपत्ति दर्श में सान्नाय्ययाजी (=दूध दही द्रव्ययाजी) पक्ष में इन्द्रदेवताक दूध और इन्द्रदेवताक दही दोनों की समान देवता होने से इकट्ठी (१ आहुति) देने से दर्शाई गई है। इस प्रकार सान्नाय्ययाजी पक्ष में दर्श की १४ आहुतियां, और पौर्णमास की १५ आहुतियां मिलकर २९ होती हैं।

चातुर्मास्य के लिये कौषीतकि ब्रा० ५।१ में लिखा है—'भैषज्ययज्ञा वा एते यच्चातुर्मास्यानि। तस्मादृतुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते। ऋतुसन्धिषु व्याधिर्जायते। अर्थात् चातुर्मास्य भैषज्य (=चिकित्सा) यज्ञ है। ऋतुसन्धियों में रोग होते हैं। इसलिये चातुर्मास्य ऋतुसन्धियों में किये जाते हैं।

गवामयन शब्द का अर्थ ही है—सूर्य की किरणों की उत्तर दक्षिण गति। अतः इसका आधिदैविक तत्त्व नाम से ही स्पष्ट है।

ज्योतिष्टोम के लिए कहा है—'वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत।'[2] एक वसन्त से दूसरे वसन्त से पूर्व तक सूर्य की पूरी परिक्रमा हो जाती है। इसीलिए उत्तर भारत में चैत्र शुक्ला १ से वर्ष का आरम्भ माना जाता है। ऋतुओं में वसन्त ऋतु सौम्य होती है। अतः इस ऋतु में किये जानेवाले यज्ञ का द्रव्य भी सोम है। आयुर्वैदिक सिद्धान्त के अनुसार शीत ऋतु में संचित कफ वसन्त में सूर्य की पूर्व ऋतु की अपेक्षा प्रखर किरणों से कुपित होता है। उसके शमन के लिये वमन विरेचन के जो द्रव्य लिखे गये हैं, उनमें एक सोम भी है।

---

१. आहुतियों का परिमाण गणनाभेद से भिन्न-भिन्न दर्शाया है। मीमांसा २।२।८ के भाष्य में पौर्णमासेष्टि में १४ आहुतियां, और दर्श में १३ आहुतियों का बोधक वचन पढ़ा है—'चतुर्दश पौर्णमास्याहुतयो भवन्ति, त्रयोदशामावास्यायाम्' संकर्षकाण्ड सूत्र २।२।३०। शतपथ ११।२।६।१० में २१ आहुतियां एक पक्ष में गिनाई हैं।

२. भाट्टदीपिका अ० २, पाद २, अधिकरण ८ में उद्धृत।

इस संक्षिप्त निर्देश से इतना तो जाना ही जा सकता है कि श्रौत नित्य यज्ञों का सम्बन्ध सृष्टिगत यज्ञों के साथ है। इसीलिये हमारे प्रत्यक्ष अनुभव में सबसे छोटी इकाई 'अहोरात्र' से लेकर 'एक सहस्र चतुर्युगी' तक वर्तमान रहनेवाले हमारे ब्रह्माण्ड (=सौरमण्डल) की स्थिति पर्यन्त सृष्टिगत परिवर्तनों का व्याख्यान करने के लिये दैनिक अग्निहोत्र से लेकर सहस्र संवत्सरसाध्य यज्ञों की प्रकल्पना हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियों ने की है।

वेद-प्रतिपादित यज्ञ सृष्टियज्ञ हैं

वेद में जितने यज्ञों का उल्लेख मिलता है, वे सब सृष्टियज्ञ ही हैं, लौकिक यज्ञ नहीं हैं। उदाहरण के लिए हम 'पुरुषमेध' को उपस्थित करते हैं। पुरुषमेध में यजुर्वेद का ३१वां अध्याय तथा ऋग्वेद का १०।६० पुरुष सूक्त विनियुक्त है। इस सूक्त में श्लेषालङ्कार से प्राकृतिक विराट् पुरुष (=महद् अण्ड=हिरण्यगर्भ) का और त्रिगुणातीत परम विराट् पुरुष ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है। हम इस प्रकरण के कुछ मन्त्र उपस्थित करते हैं। जिनसे स्पष्ट हो जायेगा कि श्रौत पुरुषमेध में विनियुक्त मन्त्रों में किस पुरुष का उल्लेख है, उसका मेध क्या है। यजुर्वेद अ० ३१ का पांचवां मन्त्र है—

ततो विराड् अजायत विराजो अधिपूरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः॥

प्रथम चार मन्त्रों में विराट् पुरुष की महिमा का वर्णन किया है। प्रस्तुत मन्त्र में सर्ग की प्रक्रिया का अति संक्षिप्त वर्णन है। इसकी व्याख्या सांख्यदर्शन और वेद के अन्यत्र निर्दिष्ट प्रकरण के आधार पर करनी चाहिये।

उस [प्रारम्भिक अजायमान सत्त्वरजतम की साम्यावस्था रूप प्रकृति] से विराट् उत्पन्न हुआ, विराट् से पुरुष उत्पन्न हुआ। उससे उत्पन्न हुआ पुरुष अत्यरिच्यत=अतिरिक्त=खाली हुआ। उसने भूमि तथा अन्य पुरों=लोकों को प्रकट किया।

यह मन्त्र का शाब्दिक अर्थ है। इसमें प्रकृति के सर्गोन्मुख होने के पश्चात् उत्पन्न दो प्रधान विकारों का उल्लेख किया है। विराट् से यहां साख्यकथित महान् अहङ्कार, और उससे उत्पन्न पञ्चतन्मात्राओं की उत्पत्ति पर्यन्त प्रथम सर्ग=प्रथम देव युग का निर्देश है। और पुरुष से हिरण्यगर्भ प्रजापति आदि विविध नामों से स्मृत 'महदण्ड' का।

ऋग्वेद १०।७२ के अदिति सूक्त में कहा है—अदिति=देवों की माता प्रकृति

के आठ पुत्र[1] उत्पन्न हुए। उनमें सात पूर्व युग में हुए, और आठवां मार्ताण्ड[2] (=मृत=मरणधर्मा नाशवान् अण्ड=महदण्ड) दूसरे युग में हुआ। मन्त्र इस प्रकार है—

अष्टौ पुत्रासो अदितेर्ये जातास्तन्वस्परि।
देवाँ उप प्रैत सप्तभिः परा मार्ताण्डमास्यत ॥८॥

सप्तभिः पुत्रैरदितिरुप प्रैत पूर्व्यं युगम्।
प्रजायै मृत्यवे त्वत् पुनर्मार्ताण्डमाभरत् ॥९॥

यह वैदिक मार्ताण्ड ही महदण्डरूप पुरुष प्रजापति है। जैसे अण्डज प्राणियों के अण्डों के भीतर उनके अङ्ग प्रत्यङ्ग बनते रहते हैं, वैसे ही महदण्ड के भीतर लोक-लोकान्तरों का निर्माण होता है। इसी को वेद में यज्ञ विश्वकर्मा भौवन (=भुवनों का उत्पन्न करनेवाला) कहा है। जब मार्ताण्ड=महदण्ड के अन्तःताप से तदन्तर्गत भुवनों का निर्माण समाप्त होने को होता है, तब यह मार्ताण्ड सहस्रांशु समप्रभ(मनु० १।९)=हिरण्य के समान प्रदीप्त होने से 'हिरण्यगर्भ' कहाता है। इसी का वर्णन ऋग्वेद १०।१२१ के हिरण्यगर्भसूक्त में इस प्रकार किया है—

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां...कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥१॥

वह हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुआ आरम्भ में वर्तमान था। वही उत्पन्न हुए लोकों का पति=स्वामी था। उसी ने पृथिवी और द्युलोक को धारण किया था। उस 'क'=प्रजापति=हिरण्यगर्भ देव के लिये हम देव अन्तः वर्तमान प्राणरूप भूत-गण अपने हव्य अंश से निर्माण-कार्य करते हैं।

स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथो पुरः। यजु० ३१।५॥

स जातः=जब विराट् पुरुष=महद् अण्ड परिपक्व हो गया, हिरण्यवत् चमकने लगा, तब वह अत्यरिच्यत=अतिरेचित हुआ=रिक्त हुआ। अर्थात् उसके ऊपर के आवरण के भेदन से भीतर निर्मित ग्रह उपग्रह बाहर आये। उस अतिरेक के पश्चात् पहले भूमि और पश्चात् अन्य पुर=ग्रहोपग्रह अपनी स्थिति को प्राप्त हुए।

---

१. लौकिक कश्यप ऋषि की पत्नी अदिति के १२ पुत्र थे। अतः स्पष्ट है कि लौकिक देवों की माता अदिति और आधिदैविक देवों की माता अदिति दोनों भिन्न-भिन्न हैं।

२. मृत+अण्ड(=मरणधर्मा अण्ड)=मृताण्ड, 'मृताण्ड एव मार्ताण्डः' प्रज्ञादित्वात् (अ० ५।४।३८) स्वार्थेऽण्। सूर्यवाचकस्तु मार्त्तण्डोऽन्यः।

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम् ।
पशूंस्तांश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये ।। यजु० ३१।६।।

उस यज्ञ=सङ्गतिकरण से निर्मित विराट् पुरुषरूप यज्ञ जो 'सर्वहुत'[1], अर्थात् जिसके भीतर वर्तमान प्रकृत्यंश सब हुत हो गये थे, कार्यरूप में परिणत हो गये थे। उससे पृषदाज्य=कहीं अन्धकार और कहीं प्रकाश संभृत=धारित हुआ। और उसी सर्वहुत् यज्ञ ने वायव्य=वायु में विचरण करनेवाले जो ग्राम्य और आरण्य पशु, जो स्वरूप से दिखाई पड़नेवाले थे, उन को उत्पन्न किया।

ये वायु में विचरनेवाले ग्राम्य समूहरूप से एक स्थान पर स्थित सूर्यरूपी खूंटे से बन्धे हुए, और आरण्य स्वतन्त्र विचरण करनेवाले धूमकेतु आदि पशु हैं। भूलोक-वासी पशु पक्षी नहीं हैं। अगले दवें मन्त्र में कहे उभयादत् (=दोनों ओर दांत वाले=भक्षण सामर्थ्यवाले) अश्व और एकदत्=एक ओर दांतवाले गौ अज अवि आदि भी लौकिक पशु नहीं हैं। विस्तारभय से इस विषय पर नहीं लिख रहे हैं (अवि पशु का वर्णन इस निबन्ध में आगे आयेगा)। उससे आगे १४वें मन्त्र में कहा है—'जिस सर्वहुत पुरुष से देवों ने=भौतिक शक्तियों ने यज्ञ का विस्तार किया है, उसका आज्य=व्यक्ति वा कान्ति का साधन वसन्त था, इध्म=प्रदीपक ग्रीष्म और हव्य शरद् ऋतु थी।' इससे भी यह स्पष्ट है कि यह यज्ञ भौतिक यज्ञ नहीं है। इस यज्ञ (=पुरुषाध्यायोक्त सृष्टियज्ञ) का द्रष्टा=दर्शक यजमान[2] नारायण है। नारा नाम आपः=मूल प्रकृति का है। उसमें जिसका अयन=व्याप्ति है, उस परम पुरुष का नाम नारायण है।[3]

पशुयज्ञ भी सृष्टियज्ञ के एकदेश

हमारी उक्त अति संक्षिप्त (पूर्वलिखित और यहां लिखी) विवेचना से स्पष्ट है

---

१. द्रष्टव्य - निरुक्त १०।२६ - विश्वकर्मा भौवनः सर्वमेधे सर्वाणि भूतानि जुहवाञ्चकार। स आत्मानमप्यन्ततो जुहवाञ्चकार। ... विश्वकर्मन् हविषा वृधानः स्वयं यजस्व पृथिवीमुत द्याम् (ऋ० १०।८१।६)।

२. यज्ञों में यजमान केवल द्रष्टा होता है, और अपने से प्रेरित ऋत्विजों के क्रियमाण कर्म के फल से निर्मुक्त रहने के लिये 'इदं न मम' का ही सङ्कल्प दोहराता रहता है।

३. आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः ।। मनु० १।१०।।

कि वेदप्रतिपादित यज्ञ सृष्टिगत यज्ञ वा यज्ञाङ्ग हैं। किसी भी सर्जनक्रिया में सङ्गतिकरण से कार्यविशेषों का जहां सर्जन होता है, वहां कुछ अंश में किन्हीं पूर्व उत्पन्न वस्तुओं का नाश भी होता है। अतः सृष्टियज्ञ के क्रियाकलाप के वर्णन में सर्जन और विनाश दोनों का निर्देश होना आवश्यक है। सृष्टिगत यज्ञ की सर्जनात्मक प्रवृत्ति दैव यज्ञ है, और विनाशात्मक प्रवृत्ति आसुर यज्ञ है। इन ध्वंसनात्मक प्रवृत्ति वाले आसुर अंशरूप यज्ञ वा यज्ञाङ्ग को ही पशुयाग कहा जाता है। मन्त्रों में वस्तुतः इन्हीं दैव और आसुर यज्ञों का वर्णन है। इसको समझाने के लिये हम आगे आसुर प्रवृत्त्यात्मक पशुयज्ञों का निर्देश करके बताएंगे कि वेदोक्त पशुयज्ञ किस प्रकार के हैं।

मैं पाठकों को यह बता देना आवश्यक समझता हूं कि मैंने यज्ञगत पश्वालम्भन के भय से यह जोड़-तोड़ नहीं की है। मैं आरम्भ में यही समझता था कि श्रौतसूत्रों ब्राह्मणग्रन्थों और शाखाग्रन्थों में जिन यज्ञों का वर्णन किया है, उनका निर्देश मन्त्रसंहिताओं में भी है। अत एव कर्मकाण्ड और समग्र मीमांसाशास्त्र के अध्ययन के पश्चात् मैंने सन् १९३५ में 'श्रौतयज्ञों की वैदिकता' शीर्षक से विस्तृत लेख लिखा था। इसमें मन्त्रों में प्रयुक्त विविध श्रौतयज्ञों के नाम, क्रियाकलाप, पात्रों के नाम जहां-जहां भी मिले, सब का संग्रह किया था। वह लेख 'आगरा' से प्रकाशित होने वाले 'दिवाकर' (साप्ताहिक) पत्र के (२६ अक्टूबर १९३५ के) 'वेदाङ्क' नामक विशेषाङ्क में छपा था[1]। उसके पश्चात् निरन्तर वैदिक वाङ्मय के स्वाध्याय से मैं इस परिणाम पर पहुंचा हूं कि वेदमन्त्रों में श्रौत द्रव्ययज्ञों का वर्णन नहीं है। वहां तो सतत प्रवृत्त सृष्टिरूप महायज्ञ का ही विभागशः वर्णन किया है। मन्त्रों में श्रौतद्रव्ययज्ञों का वर्णन न होने से ही मन्त्र और यज्ञगत क्रिया का सम्बन्ध बताने के लिये यज्ञों के क्रिया-कलाप में मन्त्रों का विनियोग किया गया है। यह विनियोग श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान, समाख्या आदि के द्वारा किया जाता है [द्र०—मीमांसा ३।१।१-१३], और इनमें भी पूर्व-पूर्व की अपेक्षा पर-पर हेतु दुर्बल होता है—'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्' (३।१।१४)॥

यज्ञ-सम्बन्धी कथानक

यज्ञों के सम्बन्ध में जो कथानक वैदिक वाङ्मय में मिलता है, वह दो प्रकार का है। एक-सृष्टिगत यज्ञों के सम्बन्ध में, और दूसरा श्रौत-सूत्रोक्त मानुष द्रव्य यज्ञों के सम्बन्ध में। दोनों के वर्णन में स्थान-स्थान पर देव और असुर शब्दों का प्रयोग

---

१. यह लेख इस संग्रह में पूर्व पृष्ठ ३४१ पर छपा है।

मिलता है। अतः इन वचनों के विषय-विभाग में बड़ी कठिनाई होती है। हम अपनी बुद्धि के अनुसार दोनों वचनों का विभाग करके लिखते हैं।

प्रस्तुत असुर सम्बन्धी यज्ञों[1] पर विचार करने से पूर्व यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि भारतीय दर्शन के अनुसार सृष्टि और प्रलय का चक्र सदा चलता ही रहता है। परन्तु जब वर्तमान सृष्टि के सम्बन्ध में कुछ लिखना होता है,तो भारतीय ग्रन्थकार वर्तमान सृष्टि से पूर्व जो प्रलयावस्था थी, उसका पहले वर्णन करते हैं, पश्चात् सृष्टि के सर्जन का।

हमारे सौरमण्डल का सृष्टि और प्रलय का काल ८ अरब ६४ करोड़ वर्ष का है। इसमें ४ अरब ३२ करोड़ वर्ष दिन, अर्थात् सृष्टि का स्थितिकाल और ४ अरब ३२ करोड़ वर्ष रात्रि अर्थात् प्रलयकाल होता है। प्रलयकाल के आरम्भ से आसुर=ध्वंसनात्मक प्रवृत्तियां उत्तरोत्तर वृद्धिगत होती हैं। और प्रलय के मध्य में पूर्णता को प्राप्त होने के पश्चात् दैवी प्रवृत्तियों का उत्तरोत्तर विकास होता है, और आसुर प्रवृत्तियां घटती जाती हैं। इस कारण वर्तमान सृष्टि से पूर्व प्रलयकाल में आसुर प्रवृत्तियों के कारण ध्वंसनात्मक यज्ञ हो रहे थे। अर्थात् प्रलयात्मक यज्ञ आसुर शक्तियों के पास था। इसी का निर्देश तैत्तिरीय संहिता ६।३।७ में किया है—

'असुरेषु वै यज्ञ आसीत्, तं देवा तूष्णीं होमेनापवृञ्जन्।'

अर्थात् पहले निश्चय ही यज्ञ असुरों में था। देवों ने उसे तूष्णीम् होम से काट लिया=छीन लिया। अभिप्राय स्पष्ट है कि जब प्रलयकाल में आसुरी शक्तियां प्रबल हो रहीं थी, तब सर्गोन्मुखकाल में दैवी शक्तियों ने तूष्णीं=चुपचाप=शनैः शनैः अपना कार्य=सर्जनरूप यज्ञ आरम्भ किया। और शनैः शनैः सर्जन प्रक्रिया बढ़ती गई। इस प्रकार यज्ञ असुरों से देवों के हाथ में आ गया।

सर्गोन्मुख काल में दैवी प्रवृत्तियां छोटी थीं, आसुरी प्रवृत्तियां बड़ी थीं। इसको श्लेष से शतपथ में कहा है—'कानीयसा एव देवाः, ज्यायसाः असुराः' (शत० १४।४।१।१)।

मानुष सर्ग के आरम्भ में असुर और देव प्रजापति कश्यप की संततियां थीं। इनमें असुर बड़े थे, देव छोटे। 'असुर' शब्द का अर्थ है—'असु+र' (मत्वर्थीय) =प्राणोंवाला अर्थात् बलवान्।

असुर पृथिवी के प्रथम शासक

कश्यप पुत्र असुर ही ज्येष्ठ होने से इस पृथिवी के प्रथम शासक हुए। तैत्तिरीय

---

१. द्र०—असुरेषु वै यज्ञ आसीत्। तै० सं० ६।३।७।२॥

संहिता ६।२।४ में लिखा है—

'असुराणां वा इयमग्र आस । यावदासीनः परा पश्यति तावद्देवानाम् । ते देवा अब्रुवन् अस्त्वेव नोऽस्याम्' ॥

अर्थात् यह समग्र पृथिवी पहले असुरों की थी । जितना बैठा हुआ व्यक्ति पीछे की ओर देख सकता है, उतनी अर्थात् अत्यल्प देवों की थी । देवों ने असुरों से कहा कि इस पृथिवी में हमारा भी भाग होवे' ।

इसी तथ्य का निर्देश मैत्रायणी संहिता ३।८।३; ४।१।१० में भी मिलता है ।

असुरों द्वारा वर्णाश्रम-मर्यादा वा यज्ञों का प्रवर्तन

असुरों के प्रथम शासक होने से वर्णाश्रम-मर्यादा का व्यवस्थापन और यज्ञों का प्रवर्तन करना युक्त था ।

प्रह्लादपुत्र कपिल असुर द्वारा वर्णाश्रम-विभाग का उल्लेख बौधायन धर्मसूत्र २।१२।३० में मिलता है । वहां लिखा है—'तत्रोदाहरन्ति—प्राह्लादिर्वै कपिलो नामासुर आस । स एतान् भेदान् चकार देवैः सह स्पर्धमानः ।'

इसी कारण असुरों में भी वर्णाश्रम-मर्यादा थी । मैत्रायणी संहिता २।३।७ में लिखा है—

'देवाः पराजिग्यमाना असुराणां वैश्यमुपायन् ।'

अर्थात्—देव लोग पराजित होते हुए असुरों के वैश्यों के पास पहुंचे । [उन्हें असुरों से पृथक् करने के लिये] ।

यज्ञ भी पहले असुरों ने ही आरम्भ किये थे ।[2] तैत्तिरीय संहिता ३।३।७ में लिखा है—

---

१. दायभाग के असमान बटवारे और देवों के मांगने पर भी असुरों द्वारा उनके भाग को न देने से कौरव पाण्डवों के समान देवों और असुरों में १२ अत्यन्त भयङ्कर युद्ध हुए । इनकी भयङ्करता की प्रतीति युद्ध की भयङ्करता का बोध कराने के लिये उपमारूप से रामायण महाभारत में बहुधा प्रयुक्त निर्देशों से होती है । यह संग्राम न्यूनातिन्यून ३०० वर्ष तक चला ।

२. द्र०—असुरेषु वै सर्वो यज्ञ आसीत् ते देवाः·········अग्निहोत्रमपवृञ्जत । ——दर्शपौर्णमासौ······चातुर्मास्यानि······ सौम्यमध्वरम् (अपवृञ्जत) । ताण्ड्य ब्रा० ८।६।५॥

'प्रजापतिर्देवासुरानसृजत। तदनु यज्ञोऽसृज्यत, यज्ञं छन्दांसि। ते विष्वञ्चो व्यक्रामन्। सोऽसुरान् यज्ञोऽपाक्रामत। यज्ञं छन्दांसि॥'

इससे इतना स्पष्ट है कि यज्ञ पहले असुरों के पास थे।

'सौत्रामणी यज्ञ के विषय में शतपथ १२।६।३।७ में स्पष्ट लिखा है—

'असुरेषु वा एषोऽग्रे यज्ञ आसीत् सौत्रामणी। स देवान् उपप्रैत।'

यज्ञ असुरों से देवों के पास पहुंचा—शतपथ ब्राह्मण १२।६।३।७ के पूर्वोक्त वचन के अनुसार सौत्रामणी पहले असुरों के पास था, फिर वह देवों के पास पहुंचा। इसी प्रकार पूर्व पृष्ठ ३६० पर उद्धृत तैत्तिरीय संहिता ३।३।७ के वचन में श्लेष मानें, तो उससे भी यही ज्ञात होता है कि यज्ञ असुरों से देवों को प्राप्त हुए। कुछ काल पश्चात् देव लोग यज्ञ-विद्या में असुरों से बहुत आगे बढ़ गये। अन्ततः ऐसी स्थिति आई कि असुर देवों का अनुकरण करने लगे—'देवा वै यद् यज्ञे अकुर्वत तदसुरा अकुर्वत।' तै० सं० ६।४।६॥

यज्ञ देवों से मनुष्यों के पास पहुंचा—कुछ काल पश्चात् यज्ञ देवों से मनुष्यों के पास पहुंचा। महाराज ऐल ने गन्धर्वों (=देव जातिस्थ) से अग्निविद्या का रहस्य जानकर यज्ञ की एक अग्नि को तीन अग्नियों में विभक्त किया[2]। ऋषियों ने यज्ञ के विविध क्रियाकलापों को पराकाष्ठा तक पहुंचा दिया।[3]

मनुष्यों में यज्ञ का आरम्भ त्रेता युग के आरम्भ में हुआ था, और असुरों और देवों में कृतयुग के उत्तरार्ध में आरम्भ हो चुका था। अतः पूर्व पृष्ठ ८४, टि० १ पर निर्दिष्ट यज्ञ-प्रवर्तन के कृतयुग निदर्शक और त्रेतायुग निदर्शक दोनों प्रकार के वचन युक्त हैं, उनमें कोई विरोध नहीं है।

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि ये असुर कौन थे? प्रश्न का कारण है, असुरों के सम्बन्ध में प्रचलित धारणा। जिसके अनुसार 'असुर' शब्द सुनते ही राक्षस पिशाच

---

१. सौत्रामणी यज्ञ के विषय में प्रसिद्ध है कि उसमें सुरापान (=मद्यपान) का विधान है, वस्तुतः यह झूठ है। उसमें वर्णित सुरा होशहवास खोनेवाली मदिरा नहीं है। वह तो 'कांजी' से भी हलका तीन दिन मात्र में सिद्ध होने वाला पेय है। विशेष द्रष्टव्य—हमारी महाभाष्य अ० १, पाद १, आह्निक १, (भाग १), पृष्ठ २१ की हिन्दी-व्याख्या।

२. द्र०—पूर्व पृष्ठ ८४, टि० १, २।

३. द्र०—पूर्व पृष्ठ ८५, ८६।

आदि वैदिक मर्यादा-विहीन जनों का बोध होता है। अतः हम प्रसङ्गवश उन असुरों के विषय में भी प्रकाश डालना उचित समझते हैं।

भारतीय इतिहास के अनुसार असुर देव और मनुष्य ये पुरुष जाति के तीन कुल थे। आरम्भ में प्रजापति कश्यप से दिति अदिति दनु आदि पत्नियों से जो सन्तानें हुईं, वे माता के नामों पर दैत्य आदित्य दानव आदि कहलाये। दैत्य ही भारतीय इतिहास में असुर कहे गये हैं। पीछे से दानव आदि भी असुरों के सहयोगी बन गये। अदिति के १२ पुत्र आदित्य देव कहे गये हैं। इन्हीं से असुरों और देवों के कुलों का आरम्भ होता है।

असुर आरम्भ में श्रेष्ठ थे। प्रजापति कश्यप ने इनकी श्रेष्ठता और ज्येष्ठता के कारण पृथिवी का शासन इन्हें दिया। इन्हीं असुरों ने वेद के अनुसार वर्णाश्रम विभाग और यज्ञों का प्रवर्तन किया, यह हम पूर्व लिख चुके हैं। शासन अथवा विशेषाधिकार मिल जाने पर यदि उस पर अंकुश न रखा जाये, तो मनुष्य की मति धीरे-धीरे विकृत होने लगती है। इसी सिद्धान्त के अनुसार असुरों में गिरावट आई। असुर शब्द, जो पहले श्रेष्ठ अर्थ (असु=प्राणों से युक्त=बलवान्) का वाचक था, वह उनके निकृष्ट आचरण से निकृष्ट अर्थ का बोधक बन गया। परन्तु बलवान् अथवा सर्वशक्तिमान्‌रूप श्रेष्ठ अर्थ का वाचक असुर शब्द पुराने ईरानियों की भाषा में 'अहुर' रूप में सुरक्षित रह गया। असुर लोग पहले श्रेष्ठ आचार-विचार वाले थे, इस अर्थ को प्रदर्शित करनेवाला और उनके पूर्व इतिहास पर प्रकाश डालने वाला एक शब्द है—'**पूर्वे देवाः।**' यह अमरकोश आदि में असुरों के पर्यायवाची नामों में पढ़ा है।

यहां प्रसङ्ग से यह और लिख देना चाहते हैं कि निरङ्कुश राज्यसत्ता पाकर जो दशा असुरों की हुई, वही दशा उत्तरकाल में देवों के हाथ में निरङ्कुश राज्य-सत्ता आने पर देवों की भी हुई। इन्द्र के अनेक मर्यादाविहीन कर्मों का वर्णन इतिहास-पुराणों में मिलता है। यज्ञों में पश्वालम्भन आरम्भ भी इन्द्र ने ही किया था, यह आगे लिखा जायेगा।

हमें ऋषियों का परम आभारी होना चाहिये कि उन्होंने असुरों और देवों के निरङ्कुश शासन से शिक्षा लेकर मानव राजाओं की रक्षा के लिये मानवीय राज-नीति में ऐसा विशिष्ट प्रावधान किया, जिससे राजा सर्वथा निरङ्कुश न रहे। वह था, राजा के लिये पुरोहित का प्रावधान करना। यह पुरोहित साधारण यज्ञकर्त्ता ऋत्विक् नहीं था। वह राजा की भावी आपदाओं से पहले से ही रक्षा का प्रावधान

करने में समर्थ सर्वश्रेष्ठ, परम तेजस्वी ब्राह्मण होता था। यही सर्वप्रधान मन्त्री होता था। जैसे रघुकुल के राजाओं का पुरोहित वा प्रधानमन्त्री वसिष्ठ था। दूर जाने की आवश्यकता नहीं, मध्यकाल के प्रधान राजनीतिशास्त्रज्ञ आचार्य कौटिल्य ने भी लिखा है—'तमाचार्यं शिष्यः पितरं पुत्रो भृत्यः स्वामिनमिव चानुवर्तेत' (अधिकरण १, अ० ६)।

अन्यत्र तो यहां तक लिखा है कि प्रमाद करते हुए राजा को एकान्त में आचार्य वा अमात्य कोड़े तक लगावे—

'मर्यादां स्थापयेद् आचार्यान् अमात्यान् वा। य एनं अपायस्थानेभ्यो वारयेयुः। छायानालिकया प्रतोदेन वा रहसि प्रमाद्यन्तमभितुदेयुः।' (अधि० १, अ० ७)।

अस्तु! अब हम पूर्वनिर्दिष्ट कतिपय निर्देशों का पुनः स्मरण कराकर प्रकृत श्रौत पशुयज्ञों के आलम्भन विषय पर लिखते हैं—

पूर्व हम लिख चुके है कि मन्त्रों में जिन यज्ञों का वर्णन है, वे सृष्टिगत यज्ञ ही हैं (पूर्व पृष्ठ ३५६-३५८)। प्राचीन ऋषियों ने सृष्टि-रचना को समझाने के लिये ही श्रौत द्रव्ययज्ञों की कल्पना की थी (पूर्व पृष्ठ ७७-८३)। सृष्टिरचना में सर्जन-कार्य 'दैव यज्ञ' हैं, और सर्जनविरोधी कार्य वा अवाञ्छनीय तत्त्वों का नष्ट होना वा नष्ट करना 'आसुर यज्ञ' हैं। सृष्टिगत दैव यज्ञों का बोध कराने के लिये इष्टियों (=पाकप्रधानयज्ञ) और सोमयज्ञों की प्रकल्पना की गई है, और आसुर यज्ञों का बोध कराने के लिये पशुयज्ञों की।

अब हम सृष्टिगत आसुर यज्ञ, जिनमें पशुओं का आलम्भन हुआ था, अथवा होता है, उनका निदर्शन कराते हैं—

सृष्टियज्ञ के पशु

सृष्टियज्ञ अत्यन्त विस्तृत है। इसमें प्रत्येक देवयज्ञ (सर्जन) के साथ आसुर यज्ञ =पशुयज्ञ होते रहते हैं। अतः सृष्टियज्ञ के सभी पशुओं का परिगणन असम्भव है। हम यहां उदाहरणार्थ कतिपय पशुओं का निदर्शन कराते हैं—

हमने इसी निबन्ध में सृष्टिगत यज्ञों का निर्देश करते हुए यजुर्वेद अ० ३१ का १६वां मन्त्र 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः०' उद्धृत किया है। इसका व्याख्यान करते हुए यास्कमुनि ने निरुक्त १२।४१ में लिखा है—

'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः—अग्निना अग्निमयजन्त देवाः। अग्निः पशुरासीत् तमालभन्त तेनायजन्त इति च ब्राह्मणम्।'

इसका भाव यह है कि सर्गक्रम में पूर्व उत्पन्न देवों ने अग्नि को प्राप्त किया, और उस अग्नि से अग्नि का यजन किया, अर्थात् उसे तीन स्थानों में विभक्त किया।

यजुर्वेद २३।१७ तथा तै० सं० ५।७।२६ में अग्निरूप पशु के साथ वायु और सूर्य पशुओं का, और उनके द्वारा किये गये यज्ञों का भी उल्लेख मिलता है—

'अग्निः पशुरासीत् तेनायजन्त। वायुः पशुरासीत् तेनायजन्त। सूर्यः पशुरासीत् तेनायजन्त।'

इससे स्पष्ट है कि सृष्टियज्ञ में अग्नि वायु और सूर्य पशु थे। इनका सृष्टिक्रम में आलम्भ हुआ। इनसे यज्ञ किया गया, और नया निर्माण हुआ।

अग्नि-पशु का आलम्भ और उससे यज्ञ

सर्ग के आरम्भ में जब प्रकृति के विकाररूप 'आपः' (पञ्च तन्मात्राओं) ने गर्भ धारण करते हुए=महद् अण्ड के रूप में संघटित होते हुए अग्नि को उत्पन्न किया, उसके पश्चात् देवों का एक असु=गतिशील[1] महद् अण्ड उत्पन्न हुआ। जिन 'आपः' ने अपनी महिमा से दक्ष (=अग्नि[2]) को धारण करते हुए और यज्ञ[3] (=महदण्ड) उत्पन्न करते हुए देखा। जो देवों[4] में अधिदेव (=महादेव) था। उस 'क'=प्रजापति[5] के लिये हम (=अन्तः वर्तमान प्राणरूप भूतगण) हविरूप से सहयोग करते हैं। अर्थात् महद् अण्ड के मध्य स्थित अग्नि के सहयोग से ही महद् अण्ड के भीतर ग्रहोपग्रहों का निर्माण हुआ। इसका प्रतिपादन निम्न मन्त्रों में किया है—[6]

> आपो ह यद् बृहती विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम्।
> ततो देवानां समवर्ततासुरेकः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

---

१ असु क्षेपणे (दिवादिगण पठित) धातु से औणादिक 'उ' प्रत्यय।

२. द्र०—आगे उद्ध्रियमाण मन्त्रों के 'गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम्' और 'दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम्' चरण। प्रथम में अग्नि को गर्भरूप में धारण करने का उल्लेख है, और दूसरे में उसी गर्भस्थ अग्नि को 'दक्ष' कहा है।

३. 'दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम्' (ऋ० १०।१२१।८)। 'यज्ञ' पद से यहां प्रजापति हिरण्यगर्भ आदि विविध नामों से स्मृत 'महद् अण्ड' अभिप्रेत है।

४. महद् अण्ड की उत्पत्ति से पूर्व पञ्चतन्मात्रा और पञ्च महाभूत (=परमाणुरूप में) उत्पन्न हो चुके थे। द्र०—प्रशस्तपाद भाष्य, सर्गवर्णन प्रकरण। 'महदादयो विशेषान्ता अण्डमुत्पादयन्ति वै।' वायुपुराण ४।७४॥ ये महदादि ही यहां देव अभिप्रेत हैं।

५. प्रजापतिर्वै कः। ऐ० ब्रा० २।३८॥ कौ० ब्रा० ५।४॥

यश्चिदापो महिना पर्यपश्यद् दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम् ।
यो देवेष्वधि देव एक आसीत् कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।

ऋग्वेद १०।१२१।७-८।।

इस अग्नि पशु का आलम्भ=अवयव-विभाग किया गया। उसे देवों (= भौतिक शक्तियों) ने तीन प्रमुख भागों में बांटकर द्यु अन्तरिक्ष और पृथिवी[1] में स्थापित किया।[2] इसका वर्णन भी ऋग्वेद (१०।८८।१०) में इस प्रकार मिलता है—

स्तोमेन हि दिवि देवासो अग्निमजीजनञ्छक्तिभिः रोदसीप्राम् ।
तम् अकृण्वंस्त्रेधा भुवे कं स ओषधीः पचति विश्वरूपाः ।।

अर्थात्—भौतिक देवों ने अपने सामर्थ्य से द्युलोक और पृथिवीलोक में पूर्ण (= व्यापक) होनेवाले जिस अग्नि को द्युलोक (= महद् अण्ड के) उपरिभाग में (अग्नि अन्य तत्त्वों से सूक्ष्म होने से ऊर्ध्व भाग में) उत्पन्न किया। उसे तीन प्रकार से कल्याणकारी होने के लिये विभक्त किया। वह विश्वरूप विविध रूपवाली ओषधियों (= ओष अग्नि को धारण करनेवाले महद् अण्ड के अवयवरूप ग्रहोपग्रहों) को पकाता है, समर्थ बनाता है।

इस अग्नि के प्रादुर्भाव से महद् अण्डस्थ ग्रहोपग्रह पक गये (= निर्मित हो गये), और इससे यह महद् अण्ड सहस्रांशु=सूर्य के समान चमकने लगा (= हिरण्यमय हुआ)। यह अग्नितत्त्व सृष्टि की उत्पत्ति और स्थिति में महत्त्वपूर्ण प्रमुख भूमिका निभाता है। सारे देव इसी से अनुप्राणित होते हैं। इसीलिये ऋग्वेद १।१।२ के मन्त्र में कहा है—

अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत । स देवाँ एह वक्षति ।।

अर्थात्—[अग्नि से] पूर्व उत्पन्न ऋषि=प्राणस्वरूप भौतिक शक्तियां, और नूतन (= पश्चात्) उत्पन्न ऋषि इसी अग्नि की स्तुति करते हैं, उसके अनुकूल

---

१. पृथिवी पद महद् अण्ड में निर्मित होनेवाले स्वयं प्रकाशित न होनेवाले ग्रहोपग्रहों का उपलक्षक है। ऋ० १०।१९०।३ के 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता···दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः।' मन्त्र के पूर्वार्ध में सूर्य स्वयंप्रकाशक ग्रहों का, और चन्द्र उपग्रहों का उपलक्षक है। उत्तरार्ध का द्यु सूर्य के चारों ओर की बाह्य परिधि का, पृथिवी स्वयं प्रकाशित न होनेवाले ग्रहों का, अन्तरिक्ष दो ग्रहों के मध्य अवकाश का और स्वः गतिशील उल्का पिण्डों का।

२. तमकुर्वंस्त्रेधाभावाय। पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीति शाकपूणिः। निरु० ७।२८।।

आचरण करते हैं। वही सब देवों=भौतिक तत्त्वों को सर्ग के लिये यथास्थान प्राप्त कराता है।

वायु-पशु का आलम्भ और उससे यज्ञ

यजुर्वेद २३।१७ के उपरिनिर्दिष्ट मन्त्र में सृष्टियज्ञ में वायुरूप पशु से यजन का वर्णन है। इस वायु पशु का प्रथम आलम्भ=अवयवविभाग महद् अण्ड में ही हुआ। सौरमण्डल के अङ्ग-प्रत्यङ्गरूप भागों के निर्माण के लिये इसे विभक्त किया गया, और प्रत्येक विभाग को यथास्थान रखा गया। जैसे इस शरीर में गर्भावस्था में एक ही प्राणवायु दशधा विभक्त होकर शरीरावयवों के निर्माण में सहयोग देता है, वैसे ही महदण्ड ग्रहोपग्रहों के निर्माण में एक ही वायुतत्त्व अनेकधा विभक्त होकर सहायक होता है। ऋग्वेद १।२।१ में लिखा है—

वायवा याहि दर्शतेमे सोमा अरंकृताः। तेषां पाहि श्रुधि हवम्॥

जगत् के निर्माण में प्रवृत्त भौतिक शक्तियां कहती हैं—हे दर्शत ! जगत् को दर्शनीय बनानेवाले वायो ! तुम आओ। तुम्हारे लिये ये सोम=उत्पादक तत्त्व अलंकृत हैं, तैयार हैं। इनका पान करो, अर्थात् इनको अपने भीतर समेट लो। और हमारे हव=हवनीय=यजनीय आकाङ्क्षा को सुनो, और सुनकर पूर्ण करो।

वायु-पशु का पुनरालम्भ—जगत् के सर्ग और स्थितिकाल में पशुयज्ञ होते ही रहते हैं, यह पूर्व कह चुके हैं। वायु का सर्गोत्पत्ति के पश्चात् एक बार पुनः आलम्भ हुआ। हमारी पृथिवी और सूर्य के मध्य जो वायु विद्यमान था, उसके कार्यभेद वा स्थानभेद (सप्त परिवह=सात आकाश) के कारण सात विभाग हुए, और एक-एक विभाग (=परिवह) में स्थित वायु के सात-सात विभाग किये गए। ये ४९ विभागों में विभक्त वायुतत्त्व ४९ मरुत के नाम से वैदिक वाङ्मय में प्रसिद्ध हैं।

आदित्य (=सूर्य) पशु का आलम्भ और उससे यज्ञ

यजुर्वेद २३।१७ के उपर्युक्त मन्त्र में सूर्य पशु से किये गए याग का भी वर्णन है। सूर्य नाम आदित्य का है। महद् अण्ड के विभक्त होने पर ग्रहोपग्रह जब उससे बाहर आये, तब ये सब लोक पास-पास थे। धीरे-धीरे ये सब एक-दूसरे से दूर हुए। पृथिवी और आदित्य की समीपता का वर्णन मन्त्रों और ब्राह्मणों में बहुत्र मिलता है।[1] कुछ काल के पश्चात् आदित्य अग्नि और प्रबल वात के कारण झटके

१. 'जामी सयोनी मिथुना समोकसा।' ऋ० १।१५९।४॥ 'द्यावापृथिवी सहा-

के साथ पृथिवी से दूर हुआ। परन्तु स्व-स्थान से विचलित सूर्य दोले (= झूले) के समान वह एक स्थान पर स्थिर नहीं हुआ, कई बार पृथिवी के समीप आया और दूर हुआ। तैत्तिरीय संहिता के अनुसार वह दो बार पृथिवी से दूर होने के पश्चात् अपने स्थान पर स्थिर हुआ।[1] आदित्य की इस सरण = दूर होने की क्रिया[2] के कारण ही सूर्य नाम हुआ—'सूर्यः सरतेर्वा' (निरु० १२।१४)।

इस प्रकार जब सूर्य स्वस्थान में टिक गया, उसके पश्चात् सूर्य के जाज्वल्यमान भाग पर, जैसे पिघले हुए लोहे पर कुछ काल पश्चात् मैल जम जाता है, वैसे ही मैल जम गया। उससे सूर्य का प्रकाश अवरुद्ध हो गया। इसे तैत्तिरीय संहिता में स्वर्भानु[3] आसुर का तम से बींधना कहा है—'स्वर्भानुरासुरः सूर्यं तमसाऽविध्यत्' (तै० सं० २।१।२)। सूर्य के इस दोष को दैवी शक्तियों ने चार चरणों में पूर्ण किया। इसका वर्णन तैत्तिरीय संहिता के इसी प्रकरण (२।१।२) में इस प्रकार किया है—

'तस्मै देवाः प्रायश्चित्तिमैच्छन्। तस्य यत् प्रथमं तमोऽपाघ्नन् सा कृष्णाऽविरभवत्, यद् द्वितीयं सा फल्गुनी, यत् तृतीयं सा बलक्षी, यदध्यस्थाद् अपकृन्तन् साऽविर्वशा समभवत्।'

अर्थात्—देवों ने आसुर स्वर्भानु असुर के द्वारा सूर्य पर किये तम के आवरण-

---

स्ताम्।' तै० सं० ५।२।३, तै० ब्रा० १।१।३।२॥ 'सह हैवेमावग्रे लोका आसतुः।' शत० ७।१।२।२३॥

१. आदित्या वा अस्माल्लोकादमुं लोकमायन्, तेऽमुष्मिंल्लोके व्यतृष्यन्त, इमं लोकं पुनरेत्य सुवर्गलोकमायन्। तै० सं० १।५।४॥ आदित्यो वा अस्माल्लोकादमुं लोकमैत्, सोऽमुं लोकं गत्वा पुनरिमं लोकमध्यायत्······सोऽग्निमस्तौत्। स एनं स्तुतः सुवर्गं लोकमगमयत्। तै० सं० १।५।६॥ अग्नि की स्तुति से सूर्य के स्वर्गमन वा दूर गमन के लिये देखिये—तै० सं० २।५।८; ५।१।५॥ शत० १।४।१।२२॥

२. आदित्य सब ग्रहों के केन्द्रस्थान में है। अतः उसका दूर गमन न होकर अन्य ग्रहोपग्रहों का उससे दूर गमन होता है। परन्तु जैसे पृथिवी की गति से होने वाला सूर्योदय वा सूर्यास्त सामान्य रूप से (=लौकिक जनों की दृष्टि से) सूर्य में गति का आरोप करके कहा जाता है (द्र०—यादृगेव ददृशे तादृग् उच्यते। ऋ० ५।४४।६), इसी प्रकार यहां भी सूर्य में दूरगमन आरोपित जानना चाहिये।

३. स्वः सूर्यस्य भां प्रकाशं नुदति अपसारयति इति स्वर्भानुः। असुरेवासुरः प्रज्ञादित्वाद् (अ० ५।४।३८) अण्।

रूप दोष की प्रायश्चित्ति (=दोषनिवृत्ति) चाही। उन्होंने प्रथम बार तम को हटाया यह कृष्णवर्ण अवि[1] हुई, अर्थात् अत्यन्त कृष्णवर्ण आवरण हुए। जो दूसरी बार तम को हटाया, वह लालवर्ण[2] (=गहरे लाल वर्णवाली) अवि हुई। जो तीसरी बार तम को हटाया, वह श्वेत वर्ण (=भूरे रङ्गवाली) अवि हुई। और जो अस्थि के ऊपर,[3] अर्थात् अन्तभाग से तम को काटा=हटाया, वह वशा अवि हुई।

ऐसा ही पाठ मैत्रायणी संहिता २।५।२, तथा काठक संहिता १२।१३ में भी मिलता है।

प्रकृत में स्वर्भानु द्वारा सूर्य में तम के आरोप और उसके अपाकरण रूप, और अपाकरण से कृष्णवर्णा, लोहिनी, भूरी और वशाधर्मा अवियों का उल्लेख किया गया है। यह स्वल्प अंश आलङ्कारिक है, शेष पूर्णतया सर्गावस्था के सूर्य पर बार-बार आये आवरण और उसके अपाकरण का वास्तविक निर्देश है। सूर्य में अभी भी कृष्णवर्ण धब्बे विद्यमान हैं। इस विषय पर हम पूर्व पृष्ठ २४ तथा ५४ पर जैमिनि ब्राह्मण का वचन लिख चुके हैं। साम्प्रतिक कृष्णत्व भी नियत समय पर प्राकृतिक घटनाचक्रानुसार दूर होते हैं। तब सूर्य में अत्यधिक ऊंची-ऊंची लपटें उत्पन्न होती हैं। सारा रेडियो सिष्टम नष्टसा हो जाता है। यह आधुनिक वैज्ञानिक भी मानते हैं।

चार बार क्रमशः जो सूर्य का आवरण हटा, उसके हटने पर अवि (=विशिष्ट अवस्थापन्न) पृथिवी की जो स्थिति दृश्यरूप में आई, उसी का वर्णन उक्त वचन में आलङ्कारिक रूप में किया है। 'अवि' पृथिवीमात्र का वाचक नहीं है, अपितु आरम्भिक अवि (=भेड़) के समान पिलपिली नरम स्थितिवाली पृथिवी का नाम है, यह आगे 'अविमेष' में स्पष्ट करेंगे। यहां आलङ्कारिक भाषा में सूर्य के चार बार क्रमशः उतारे गये आवरण से चार रङ्ग वा प्रकार की अवियों (=भेड़ों) वा पृथिवी की विशिष्ट स्थितियों का परिज्ञान कराया है।

प्रथम बार सूर्य का जो घना आवरक पदार्थ हटा, वह अत्यन्त कृष्ण वर्ण था।

---

१. 'समभवत्' क्रिया यहां प्राकट्य अर्थ में प्रयुक्त है।

२. भट्टभास्कर ने 'फल्गुनी' का अर्थ 'नील-वर्णा' किया है। सायण ने 'लाल-वर्णा' किया है। मै० सं० २।५।२ में 'लोहिनी' पाठ होने से सायण का अर्थ उचित प्रतीत होता है।

३. मैत्रायणी सं० २।५।२ में 'अध्यस्तात्' पाठ है। उसका अर्थ विवेचनीय है।

जब सूर्य पर घना आवरण था, तब प्रकाश का सर्वथा अभाव होने से पृथिवी आदि लोक दृश्य अवस्था में नहीं थे। जब प्रथम बार घना आवरण हटा, तब पृथिवी आदि पर अति क्षीण प्रकाश पहुंचने से वे लोक कृष्णवर्ण दिखाई दिये[1]। जब दूसरी बार आवरण हटा, तब सूर्य का प्रकाश कुछ अधिक स्फुट हुआ। लाल वर्ण सा प्रकाश निकला, उससे पृथिवी आदि लोक लालवर्ण दिखाई दिये। जब तृतीय बार आवरण हटा, प्रकाश की मात्रा अधिक बढ़ी, पृथिवी आदि मटैले से श्वेतवर्ण दिखाई दिये। जब चौथी बार आवरण हटा, तब पृथिवी आदि लोक अपने वास्तविक स्वरूप में दिखाई दिये। वह स्वरूप था 'वशा अवि' रूप।

यद्यपि इस काल में प्राणि जगत् था ही नहीं। अतः पृथिवी की विभिन्न स्थितियों का द्रष्टा भी नहीं था। अतः पृथिवी आदि लोकों की उपलब्धिविशेषों की जो स्थिति कही है, उससे तादृश उपलब्धियक्त्यवच्छिन्न पदार्थ का वर्णन किया है।

स्वर्भानु असुर के द्वारा सूर्य के तम से आवृत होने तथा तम को दूर करने का वर्णन ऋग्वेद ५।४०।५-९ इन चार मन्त्रों में भी मिलता है। वहां मन्त्र ६ में इन्द्र के द्वारा तीन बार[2] तम को हटाने का वर्णन है, और चौथी बार अत्रि द्वारा। मन्त्र ८ में अत्रि के द्वारा सूर्य में चक्षु (=तेज) के आधान और स्वर्भानु की माया को दूर करने का उल्लेख है। जैमिनि ब्राह्मण १।८० में लिखा है—'सूर्य को स्वर्भानु असुर ने तम से आच्छादित कर दिया था। देवों ने और ऋषियों ने उसकी चिकित्सा की। देवों ने अत्रि ऋषि से कहा कि तुम इस तम को दूर करो।'[3]

ऋग्वेद और जैमिनि ब्राह्मण में उक्त अत्रि भौम=भूमि का पुत्र अग्नि है।

तैत्तिरीय संहिता २।१।२,४; २।१।८, २।२।१० में भी लिखा है—'आदित्यो न व्यरोचत' (=आदित्य प्रकाशित नहीं हो रहा था)। ऐसा निर्देश करके उसे प्रकाशित करने के कई निर्देश मिलते हैं। सायण ने लिखा है—'आदित्य के विषय में उक्त विविध प्रायश्चित्तियां कल्प वा युग के भेद से व्यवस्थित जाननी चाहियें।' अर्थात्—सर्गावस्था में सूर्य पर कई बार तम का आक्रमण हुआ, और उसका निरा-

---

१. द्र०—पूर्व पृष्ठ ३६६ की टिप्पणी १।

२. मन्त्र में साक्षात् 'तीन बार' का उल्लेख नहीं है; परन्तु 'तुरीयेण ब्रह्मणाविन्दद् त्रिः' (ऋ० ५।४०।६) में 'तुरीय' पद से पूर्व तीन बार तम हटाने की प्रतीति स्पष्ट रूप से होती है।

३. 'स्वर्भानुरासुर आदित्यं तमसाऽविध्यत्। तद्देवाश्चर्षयश्चाभिषज्यन्। तेऽत्रिमब्रुवन्नृषे त्वामिदमपजहीति।' जै० ब्रा० १।८०॥

करण हुआ[1]। स्वर्भानु का तम का आक्रमण वर्तमान समय में भी होता है, और उसका यह आक्रमण नियत समय पर होता रहता है यह पूर्व संकेत कर चुके हैं।

'वशा अवि' का आलम्भन

अवि नाम लोक में भेड़ का है। अविमेध का भी वर्णन वैदिक ग्रन्थों में मिलता है। 'मेध' यज्ञ का नाम है। यह मेधृ 'सङ्गमे हिंसायां च' धातु से बनता है। इसके सङ्गम=मिलना और हिंसन दोनों अर्थ हैं। यही मेध शब्द गोमेध अजमेध अश्वमेध पुरुषमेध आदि यज्ञविशेषों के नाम में भी प्रयुक्त हुआ है। वैदिक यज्ञों में मेध शब्द के यथायोग्य (जहां जो सम्भव है) दोनों अर्थ गृहीत होते हैं।

स्वर्भानु के द्वारा आदित्य को तम से आवृत करने और उस तम के निराकरण के सम्बन्ध में पूर्व (पृष्ठ ३६८) तैत्तिरीय संहिता का जो वचन उद्धृत किया था, उसमें अस्थि के ऊपर के तम को हटाने से वशा अवि का प्राकट्य कहा है। उसके आगे संहिता का पाठ इस प्रकार है—

'साविर्वशाऽभवत्। ते देवा अब्रुवन् देवपशुर्वा अयं समभूत्। कस्मा इममालप्स्यामहा इति। अथ वै तर्ह्यल्पा पृथिव्यासीत्। अजाता ओषधयः। तामविं वशामादित्येभ्यः कामायालभन्त, ततो वा अप्रथत पृथिवी, अजायन्त ओषधयः।'

तै० सं० २।१।१२॥

अर्थात्—वशा अवि प्रकट हुई। वे देव बोले—यह देवपशु प्राप्त हुआ है। इसे किसके लिये आलभन करें। उस समय यह पृथिवी अल्प थी, ओषधियों से रहित थी। उस वशा (=वन्ध्या) अवि को आदित्यों की कामना के लिये आलभन किया। उससे पृथिवी फैली, उस पर ओषधियां उत्पन्न हुईं।

मैत्रायणी संहिता २।५।१२ में इस प्रकार कहा है—

'अथवा इयं तर्ह्यृक्षाऽऽसीद् अलोमिका। ते अब्रुवन् तस्मै कामायालभामहै, आऽस्यामोषधयो वनस्पतयश्च जायन्त इति॥'

इस पाठ में ऋक्षा पृथिवी को अलोमिका कहा है। और उस पर वनस्पतियों को ओषधियों के रूप में लोम उत्पन्न करने की कामना की है।

यद्यपि ये दोनों पाठ समान से प्रतीत होते हैं, मगर सूक्ष्मता से देखने पर इन दोनों में अन्तर है। ये अन्तर वशा और ऋक्षा तथा ओषधि और वनस्पति शब्दों से

---

१. 'आदित्यविषये बहवः प्रायश्चित्तयः कल्पयुगादिभेदेन व्यवस्थापनीयाः।' तै० सं० भाष्य २।१।८॥

प्रकट होता है। तैत्तिरीय संहिता में वशा कहा है, जिस का अभिप्राय है कि उस समय पृथिवी पर घास तृण कुछ भी पैदा नहीं हुए थे। तदनन्तर जब घास तृण उत्पन्न हो गये, तो वह लोमिका=रोमोंवाली हो गई। ओषधि का अर्थ है 'ओषध्यः फलपाकान्ताः' जिनका फल पकने पर जो स्वयं नष्ट हो जावें, वे ओषधियां कहाती हैं, अर्थात् घास तृण आदि। इनसे जब पृथिवी भर गई, तब वह ऋक्षा हुई। ऋक्ष नाम भालू का है। उसके समस्त अङ्गों पर लम्बे-लम्बे रोम होते हैं। इस समय अभी वनस्पति पुष्प फलवाले वृक्ष उत्पन्न नहीं हुए थे। अतः ऋक्षा पृथिवी का देवों ने पुनः आलभन किया। उससे पृथिवी पर वनस्पतियां=बड़े-बड़े वृक्ष उत्पन्न हुए। इस उत्तर दशा को मैत्रायणी संहिता के पाठ में दर्शाया है। जैमिनि ब्राह्मण २।५४ में दोनों अवस्थाओं को एक बनाकर भी कहा है—'ओषधिवनस्पतयो वा लोमानि।'

अनेक बार अवि का आलभन

उक्त दोनों पाठों में वशा अवि का तथा ऋक्षा अवि का दो बार आलभन कहा है। इन दोनों अवस्थाओं में पृथिवी अवि थी, अर्थात् अवि के समान पिलपिली=नरम थी। इसे ही यजुर्वेद (२०।१२) में 'अविरासीत् पिलिप्पिला' शब्दों से कहा है। ऋक्षा अवि को यजुर्वेद (१३।५०) में ऊर्णायु कहा है। क्योंकि उस पर उनके समान ओषधिरूप लोम उत्पन्न हो गये थे। मैत्रायणी संहिता २।५।२ के उपर्युक्त वचन में वनस्पतियों को भी लोम कहा है। यहां लोम से अभिप्राय केशों से है, जो रोमों की अपेक्षा लम्बे होते हैं।

इस अविरूप पृथिवी का अनेक बार आलभन हुआ। यजुर्वेद १३।१७ में भू भूमि अदिति विश्वधा पृथिवी शब्दों के द्वारा पृथिवी की भिन्न-भिन्न पांच अवस्थाएं कही हैं। 'पृथिवी' अवस्था के अनन्तर उसमें दृंहण होता है। यजु० १३।१८—'पृथिवीं दृंह।' यह दृंहण पृथिवी में शर्करा=रोड़ों की उत्पत्ति के अनन्तर होता है। कहा है—

'शिथिरा वा इयमग्र आसीत् तां प्रजापतिः शर्कराभिरदृंहत्।'
मैत्रा० सं० १।६।३॥

'आर्द्रेव हीयमासीत् तां देवा शर्कराभिरदृंहन् तेजोऽग्नावदधुः।'
काठक सं० ८।२॥

सलिलरूपा भू का सुवर्णोत्पत्ति पर्यन्त नौ बार आलभन हुआ। उसी की प्रक्रिया

भी वैदिक वाङ्मय में वेदिनिर्माण के प्रसङ्ग से बताई है। इसके लिये देखिये—पूर्व पृष्ठ १५-१७; ४४-४६; ७८-८१।

आलभन और आलम्भन

आलभन और आलम्भन ये दो स्वतन्त्र शब्द हैं। इनकी दो स्वतन्त्र 'लभ' और 'लम्भ' धातुएं हैं। यह हम पूर्व 'वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं की ऐतिहासिक मीमांसा' शीर्षक लेख के पृष्ठ ८७ पर आयुर्वेदीय चरक संहिता (चिकित्सा० १९।४) के 'आदिकाले पशवः समालभनीया बभूवुः, नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म' वचन से व्यक्त कर चुके हैं। (द्र०—पृष्ठ ८७ की टिप्पणी २, जो कि लेख के अन्त में पृष्ठ १३५ पर छपी है, देखें)। वेद और वैदिक वाङ्मय में जहां जहां पशुयज्ञों का वर्णन मिलता है, वहां सर्वत्र 'आलभते' क्रिया का प्रयोग है। इससे वहां सर्वत्र पशु का 'आलभन' अर्थात् 'प्राप्त करना' अथवा 'स्पर्श करना' अर्थ ही अभिप्रेत है, पशु का मारना अर्थ अभिप्रेत नहीं है।

ऊपर के ब्राह्मणवचनों से यह व्यक्त है कि इन आकाशीय यज्ञों में देवों ने किसी देवपशु का आलभन हिंसा अथवा नाश नहीं किया, अपितु उन्होंने किसी न किसी प्रकार पशु को समृद्ध किया। पार्थिव यज्ञ इन्हीं आकाशीय आधिदैविक यज्ञों की अनुकृति रूप हैं। जब आधिदैविक यज्ञों में ही देव पशुओं का संज्ञपन=हनन अथवा नाश नहीं होता तब भला उनकी अनुकृतियों पर रचे गए पार्थिव पशुयज्ञों में पशुओं का हनन कैसे सम्भव है। इसीलिये वेद में अवि के लिये कहा है—

इममूर्णायुं वरुणस्य नाभिं त्वचं पशूनां द्विपदां चतुष्पदाम्।
त्वष्टुः प्रजानां प्रथमं जनित्रमग्ने माहिँसीः परमे व्योमन्॥

यजु० १३।५०॥

अर्थात् इस ऊर्णायु=अवि को [जो] वरुण की नाभि, त्वचा पशुओं दो पैरों वालों और चार पैरोंवाले की, उत्पन्न करनेवाले की प्रजाओं में प्रथम उत्पन्न हुई को, हे अग्ने! मत हिंसा करो, परम व्योम (=आकाश में)।

इसी याजुष-मन्त्र के भाव को याजुष शाखाओं में इस प्रकार व्यक्त किया है—

अलेलेद् वा इयं पृथिवी, साबिभेदग्निर्मातिधक्ष्यत्यीत्य बीभेदग्निर्हरो मे विनेष्यतीति। काठक सं० ८।२॥

अग्नेर्वा इयं सृष्टादबिभेदति मा धक्ष्यतीति। मैत्रायणी सं० १।६।३॥

अर्थात्—अतिशय द्रव थी यह पृथिवी, उसमें अग्नि उत्पन्न होने पर वह डरी, मुझे

बहुत जला देगा, मेरा बहुत विनाश कर देगा।

इस मीमांसा से यह भले प्रकार स्पष्ट हो गया कि वैदिक पशुयज्ञों में कहीं पर भी पशुओं के संज्ञपन अथवा हिंसन का निर्देश नहीं है। इसमें तो यज्ञीय पशुओं की रक्षा का भाव पदे पदे स्पष्ट किया है। अतः वेद में प्रतिपादित आधिदैविक-अथवा आकाशीय पशुयज्ञों की अनुकृति पर रचे गए पार्थिव पशुयज्ञों में पशुहिंसा करना निश्चय ही वेदविरुद्ध है।

पशुयज्ञों की शास्त्रीय संज्ञा—'पशुबन्ध'

उपर्युक्त कारण से ही पशुयज्ञों का नाम ब्राह्मणग्रन्थों और श्रौतयज्ञों में 'पशुबन्ध' है, 'पशुवध' नहीं। 'पशुबन्ध' शब्द से स्पष्ट है कि पशुयज्ञों में ग्राम्य वा आरण्य पशुओं का यूप में बन्धन तक क्रिया होती है। यदि पशुयागों में पशुओं का वध अभिप्रेत होता तो इनकी संज्ञा 'पशुवध' होनी चाहिए थी।

पशुबन्ध संज्ञा का अन्य रहस्य

'पशुबन्ध' संज्ञा से ही स्पष्ट है कि यज्ञ में पशुओं की हिंसा नहीं होती थी। उनको यज्ञ में यूप में बांधकर पर्यग्निकरण पर्यन्त क्रिया करके छोड़ दिया जाता था। यह पूर्व उद्धृत चरक संहिता के आदिकाले पशवः समालम्भनीया बभूवुः नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म (चिकित्सा १९।४) के वचन से स्पष्ट है। जब यज्ञों में मूर्खतावश पशुओं का आलम्भन—हिंसा प्रवृत्त हुई, उस समय भी आरण्य पशुओं की हिंसा नहीं की जाती थी। कात्यायन आदि श्रौतसूत्रों में कहा है—'कपिञ्जलादीनुत्सृजन्ति पर्यग्निकृतान्' (का० श्रौ० २१।१।१२)। इतना ही नहीं, पुरुषमेध में भी विविध प्रकार के पुरुषों को एकत्रित किया जाता था, उनकी हिंसा नहीं की जाती थी। श्रौतसूत्रों में कहा है—

'कपिञ्जलादिवद् उत्सृजन्ति ब्राह्मणादीन्।' (का० श्रौ० २१।१२)

अर्थात्—जैसे अश्वमेध में कपिञ्जल आदि आरण्य पशु पक्षियों का उत्सर्जन कहा है, उसी प्रकार पुरुषमेध में ब्राह्मणादि जो पुरुष संगृहीत किये हैं, उन्हें छोड़ देवें।

इसी प्रकार प्राचीनकाल में समस्त पशुओं को छोड़ दिया जाता था। मारकर उनके अवयवों से यज्ञ नहीं करते थे।

पशुयागों में पशु के स्थान पर पुरोडाश

पशुयागों में सामान्य रूप से कहा है—"यद्देवत्यः पशुः तद्देवत्यः पुरोडाशः,

अर्थात्—जिस देवतावाला पशु होता है, उस देवतावाला पुरोडाश करे।

हमारे विचार में यह प्रथम प्रकरण में निर्दिष्ट पुरोडाश याग पशु के स्थान पर विहित है। इसी की पुष्टि पुरुषमेध से भी होती है, वहां पुरुषों के उत्सर्ग के पश्चात् कहा है—

'स्विष्टकृद्वनस्पत्यन्तरे पुरुषदेवताभ्यो जुहोति।' (का० श्रौत २१।१।१३)

अर्थात्—स्विष्टकृत् और वनस्पति के मध्य पुरुष देवताओं के लिये होम करे। यथा ब्राह्मण का देवता ब्रह्म कहा है—'ब्रह्मणे ब्राह्मणम्' (यजु० ३०।५)। अतः ब्राह्मण के लिये ब्रह्मणे स्वाहा कहकर घृत की आहुति देवें।

पुरुषमेधस्थ पुरुषों के उत्सर्ग और उनके स्थान पर घृताहुति का विधान इस बात को सूर्य की भान्ति स्पष्ट कर देता है कि पशुयज्ञों में किसी भी पशु का वध न करके उनके स्थान पर उनके देवता के उद्देश्य से घृताहुति देकर यज्ञकर्म पूर्ण करना चाहिए।

पशुयज्ञों में पशुओं का वध क्यों नहीं होता था, यह हम पूर्व (पृष्ठ १८, ४७) लिख चुके हैं। उसका सार यह है कि श्रौतयज्ञ सृष्टियज्ञ के रूपक हैं। प्राचीन घटनाओं के रूपक जो नाटकरूप[1] में प्रस्तुत होते हैं, उनमें और सब घटनाओं का निदर्शन तो यथावत् होता है, परन्तु युद्ध में वध बन्धन आदि का निदर्शन नहीं कराया जाता। इसी प्रकार श्रौतयज्ञान्तर्गत पशुयाग जो सृष्टिगत आसुरयज्ञ के नाटक रूप में प्रस्तुत किया जाता है, उनमें भी पशुओं का वध दिखाना ऋषिमुनि अनुचित मानते थे। अतः उन्होंने पश्वाहुति के स्थान पर पुरोडाश अथवा घृताहुति का विधान करके यज्ञ की पूर्णता सम्पन्न करने का विधान किया था।

अब हम यह दर्शाने का प्रयत्न करेंगे कि यज्ञों में पशुहिंसा किस समय और क्यों आरम्भ हुई। इसके लिये यह जानना आवश्यक है कि मनुष्य समाज में मांसा-हार की प्रवृत्ति कब और कैसे हुई?

सृष्टि के आरम्भ में मानव निरामिष-भोजी

न केवल भारतीय ग्रन्थ इस तथ्य को प्रकट करते हैं, अपितु संसार के सभी

---

१. आरम्भ में लौकिक नाटकों का उद्भव श्रौतयज्ञीय नाटकों के आधार पर ही हुआ था। अत एव यज्ञीय नाटक के आधारभूत स्रुच स्रुव आदि पात्रों के आधार पर ही लौकिक नाटकों के अङ्गभूत व्यक्तियों का नाम भी 'पात्र' प्रसिद्ध हुआ।

धर्मग्रन्थ[1] इसी इतिहास को पुष्ट करते हैं कि सृष्टि के आरम्भ में मानवों का भोजन फल मूल कन्द और अन्न आदि ही था[2]। विकासमतानुयायी वृथा अनुमान से आदि मानव को असभ्य और शिकार पर जीनेवाला मानते हैं। इसके अनुरूप उत्खनन में उपलब्ध होनेवाले पाषाणों के कल्पित हथियार भी विकासवादियों के मतानुसार पांच सात सहस्र वर्ष से प्राचीन नहीं हैं, जबकि भारतीय इतिहास के ग्रन्थ तथा अन्य देशों के ग्रन्थों से व्यक्त होनेवाला मानव इतिहास बहुत पुराना है। भारतीय इतिहास तो न्यूनातिन्यून अठारह बीस सहस्र वर्ष का क्रमबद्ध इतिहास है। अतः सत्य इतिहास के विद्यमान होते हुए वृथा अनुमान का उदय ही नहीं होता। भारतीय इतिहास के अनुसार तो मानव समाज में मांसाहार का प्रचलन बहुत काल पश्चात् हुआ। संसार की सबसे प्राचीन धर्म पुस्तक ऋग्वेद ५।८३।१० में स्पष्ट कहा है—'अजीजन ओषधीर्भोजनाय' अर्थात् खाने के लिए औषधियां उत्पन्न की गई हैं। इसी प्रकार अथर्ववेद ६।१४०।२ में दांतों को उद्देश करके कहा है—

व्रीहिमत्तं यवमत्तमथो माषमथो तिलम्।
एष वां भागो निहितो रत्नधेयाय……॥

इस मन्त्र में स्पष्टरूप से दांतों का भाग वा भोजन व्रीहि यव माष तिल बताया है।

शरीर विज्ञान की साक्षी—सभी चिकित्सक चाहे वे भारतीय हों, चाहे पाश्चात्य, एक स्वर से स्वीकार करते हैं कि मनुष्य के दांतों और उदर की आंतड़ियों की बनावट मांसाहारी जीवों के समान नहीं है।

इतना ही नहीं, जितने निरामिष भोजी पशु हैं, वे चाहे भूखे मर जायें, परन्तु कभी मांस नहीं खाते। क्या वानरों को वा हिरण आदि पशुओं को किसी ने आज तक मांस खाते देखा है? मानव भी स्वभावतः निरामिषभोजी है। अतः वह आदिकाल में मांसाहार में स्वभावतः प्रवृत्त नहीं हो सकता।

मांसाहार का आरम्भ

हम पूर्व लिख चुके हैं कि कश्यप प्रजापति के दिति से उत्पन्न दैत्य=असुर इस

---

१. पुरानी बाईबल और कुरान आदि में लिखित आदम और हव्वा की कथा इसी सत्य को प्रकट करती है।

२. इसके विस्तार के लिए देखिये—पं० भगवद्दत्त कृत 'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास', भाग १, पृष्ठ २१०-२१२, द्वि० सं०।

पृथिवी के प्रथम अधिष्ठाता थे[1]। ये अत्यन्त बलवान् थे। अत एव इन्हें असुर=(असु=प्राण+र[2]=युक्त) कहा गया है[3]। इन दैत्यों का आचार प्रारम्भ में अत्यन्त श्रेष्ठ था। इसलिये पहले इन्हें 'देव' कहा जाता था। उत्तरकाल में इन असुरों के आचारभ्रष्ट होने पर अदितिसुत देवों से इनका भेद दर्शाने के लिए इन्हें 'पूर्वदेव' कहा जाने लगा[4]। यूनानीग्रन्थों में उल्लिखित देवों की तीन श्रेणियों[5] में प्रथम श्रेणी के देव ये असुर ही हैं। (हरक्यूलिस=सुरकुलेश=विष्णु को द्वितीय श्रेणी का देव कहा है और बेक्कस=विप्रचित्ति दानव को तृतीय श्रेणी का)। दैत्यों का पृथिवी पर निष्कण्टक आधिपत्य होने से उनमें शनैः-शनैः मद अहङ्कार उत्पन्न हुआ, और शनैः-शनैः उनमें सुरापान और मांसाहार की प्रवृत्ति हुई। अब उनका धर्म केवल शरीरपोषण रह गया[6]। ऐसी अवस्था में असुर शब्द 'असुषु रमते' (=प्राणों में रमनेवाला) व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थान्तर का वाचक हुआ। इन्द्रादि अदितिसुत असुरों से छोटे थे। असुरों ने उन्हें पृथिवी का भाग नहीं दिया[7]। दायभाग (=पृथिवी के बंटवारे) के निमित्त असुरों और देवों में विरोध उत्पन्न हुआ, तद्धेतुक १२ महान् संग्राम हुए,[8] अन्त में देवों ने असुरों को पराजित करके उन्हें स्वर्ग से खदेड़ दिया[9]। तदनन्तर महान् विजय और ऐश्वर्य के मद से देवों में

---

१. द्र०—पूर्व पृष्ठ ३७६, तथा इसी पृष्ठ की टि० ५।

२. 'र' मत्वर्थीय। यथा पाण्डुर पांसुर नगर।

३. तस्य वा असुरेवाजीवत्, तेनासुना सुरान् असृजत् तदसुराणामसुरत्वम्। मै० सं० ४।२।१॥

४. अमर कोश १।१।१२॥ स पूर्वदेव चरितम् ········महा० सभा० १।१७॥ पूर्वदेवो वृषपर्वा दानवः (नीलकण्ठ)। देवान् यज्ञमुषश्चान्यान् असृजत्। महा० वनपर्व २२०।१०॥ यहां 'देवान्' का विशेषण 'यज्ञमुष्' प्रयुक्त होने से देव शब्द से पूर्वदेव=असुरों का निर्देश किया है। द्र०—असुरसृष्टिमाह देवान्। नीलकण्ठी टीका।

५. भारतवर्ष का बृहद् इतिहास भाग १, पृष्ठ २१३, २१४, २१५। (द्वि०सं०)

६. छान्दोग्य उप० ८।८।२—५॥

७. असुराणां वा इयं पृथिव्यासीत्. ते देवा अब्रुवन्, दत्त नोऽस्याः पृथिव्याः। मैत्रा० सं० ४।१।१०॥ तुलना करो—का० सं० ३१।८॥

८. तेषां दायनिमित्तं वै संग्रामा बहवोऽभवन्। वराहेऽस्मिन् दश द्वौ च षण्डामर्कान्तगाः स्मृताः। वायु० ९७।७२॥

९. ततो वै देवा इमाममुराणामविन्दत, ततो देवा असुरान् एभ्यो लोकेभ्यो

भी शनैः-शनैः तामसी प्रवृत्ति बढ़ने लगी। वे भी आचार में उच्छृङ्खल हुए। उनमें भी मांसाहार की प्रवृत्ति हुई, परन्तु विष्णु इस दोष से बचा रहा[1]। स्कन्द तथा अन्य निवृत्तिमार्गानुयायी इन व्यसनों से दूर रहे।

त्रेता के आरम्भ तक ऋषियों की महती अनुकम्पा से आर्यों का आचारस्तर सर्वथा पवित्र और उच्च रहा। तदनन्तर [दूषित] देवों के विशेष संसर्ग से आर्य राजाओं में भी मांसाहार की प्रवृत्ति हुई, और उत्तरोत्तर बढ़ती गई। इतना होने पर भी ऋषि मुनि उस प्रवृत्ति को सीमित रखने के लिए समय-समय पर 'वृथा मांसं नाश्नीयात्' आदि प्रतिबन्ध लगाते रहे। इससे उच्चवर्णों और कुलों में मांसाहार की प्रवृत्ति अत्यल्प हुई।

यज्ञों में पशुहिंसा की प्रवृत्ति

पूर्व लिख चुके हैं कि यज्ञों का प्रादुर्भाव सबसे प्रथम असुरों में हुआ। तत्पश्चात् वह देवों के पास पहुंचा[2]। इन्द्र ने सौ महाक्रतु करके शतक्रतु नाम पाया। तदनन्तर यज्ञों का प्रसार मानवों में हुआ। मानवों में यज्ञों की प्रवृत्ति त्रेता के प्रारम्भ में अथवा कृतयुग के अन्त में हुई[3]। शनैः-शनैः मानवों में यज्ञ की प्रवृत्ति बढ़ी और शतशः काम्य तथा नैमित्तिक यज्ञों की सृष्टि हुई।

कृतयुग में यज्ञों की प्रवृत्ति देवों में ही थी। कृतयुग में पशुयज्ञों में कभी भी पशुओं की हिंसा नहीं हुई। उत्तरकाल में जब देवों में मांसाहार की प्रवृत्ति हुई, तब त्रेता के प्रारम्भ अथवा दोनों के सन्धिकाल में प्रथम बार इन्द्र ने पशुहिंसा प्रारम्भ की। ऋषियों ने इस अनर्थकारी कर्म का भारी विरोध किया। परन्तु इन्द्रादि देवों ने अपने अहङ्कार के मद में ऋषियों का कथन न माना। इस प्रकार यज्ञ में पशुहिंसा की प्रवृत्ति भी देवों से आरम्भ हुई।

अब हम इस विषय पर प्रकाश डालनेवाले प्रमाण उपस्थित करते हैं—

(१) महाभारत आश्वमेधिक पर्व अ० ९१, शान्ति पर्व अ० ३३७, अनुशासन पर्व० अ० ११५, मत्स्य पुराण अ० १४३ और वायु पुराण अ० ५७ में उपरिचर वसु की कथा विस्तार से लिखी है। उसका भाव इस प्रकार है—

निरभजन्। मै० सं० ४।१।१०।। तुलना— का सं० ३१।८।।

१. आजतक वैष्णव भोजनालय का अर्थ निरामिषभोजी समझा जाता है।

२. द्र०— पूर्व पृष्ठ ३६०।

३. द्र०— पूर्व पृष्ठ ८४, टिप्पणी १।

"इन्द्र ने सर्वप्रथम अश्वमेध में पशुओं का आलम्भन (=हिंसन) किया। दीर्घदर्शी ऋषि लोग इस नए अनर्थ को देखकर घबरा उठे। उन्होंने इन्द्र को समझाया कि वेद में पशुहिंसा की विधि नहीं है। यदि आगमस्थ विधि से यज्ञ करना है, तो तीन वर्ष से अधिक पुराने अप्ररोही (=अज=जो उगने के अयोग्य हो गये) हों, ऐसे बीजों से यज्ञ करो। इन्द्र ने मान (=मद) और मोह के वशीभूत होकर ऋषियों का कथन न माना। दोनों ने निर्णयार्थ उत्तानपाद के पुत्र उपरिचर वसु[1] को मध्यस्थ बनाया। उसने देवों और ऋषियों का बलाबल विचारकर देवों के पक्ष में अपना निर्णय दिया। ऋषियों ने पक्षपात से मिथ्या निर्णय देने के कारण उपरिचर वसु को शाप दिया।"

(२) अग्निवेश कृत (विक्रम से ५००० वर्ष पूर्व) और वैशम्पायन चरक[2] द्वारा प्रतिसंस्कृत (विक्रम से ३००० वर्ष पूर्व) चरक संहिता के चिकित्सास्थान अ० १९।४ में अतिसार की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए लिखा है—

'आदिकाले खलु यज्ञेषु पशवः समालभनीया बभूवुः, नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म। ततो दक्षयज्ञप्रत्यवरकालं मनोः पुत्राणां नरिष्यन्नाभागेक्ष्वाकुनृगशर्यात्यादीनां च क्रतुषु 'पशूनामेवाभ्यनुज्ञानात्' पशवः प्रोक्षणमापुः। अतश्च प्रत्यवरकालं पृषध्रेण दीर्घसत्रेण यजता पशूनामभावात् गवालम्भः प्रवर्तितः..........अतिसारः पूर्वमुत्पन्नः पृषध्रयज्ञे।'

अर्थात्—आदिकाल (कृतयुग) में निश्चय से यज्ञों में पशुओं का समालभन (=स्पर्श) किया जाता था। आलम्भन[3] (=हिंसन) के लिए प्रकृत नहीं किये जाते थे। तत्पश्चात् दक्षयज्ञ के अनन्तर (त्रेता के प्रारम्भ में) मनु के नरिष्यन्, नाभाग, इक्ष्वाकु और शर्याति आदि पुत्रों के यज्ञों में '[वेद में] पशुओं [के आलम्भन] की ही अनुज्ञा है', ऐसा समझकर पशु प्रोक्षण अर्थात् आलम्भन को प्राप्त हुए। और इसके अनन्तर दीर्घकालीन यज्ञ करते हुए पृषध्र[4] ने पशुओं के अभाव के कारण गौ का

---

१. पुरुकुलोत्पन्न संवरण वंशोद्भव कृतिराज का पुत्र चेदिराज 'उपरिचर' भिन्न व्यक्ति है। २. द्र०—पूर्व पृष्ठ १७६, टि० ३।

३. लभ और लम्भ स्वतन्त्र धातुएं हैं और इनका अर्थ भी पृथक्-पृथक् है। द्र०—पूर्व पृष्ठ १३५ पर छपी पृष्ठ ८७ की टि० २।

४. यह पृषध्र मनु-पुत्र नहीं है, यह चरक के इसी वचन से स्पष्ट है। यहां मनु-पुत्रों से उत्तरकाल में पृषध्र का उल्लेख किया है। हमारे विचार में यह पृषध्र पुरुरवा का पौत्र नहुष है। यह अगले प्रकरण से स्पष्ट होगा।

आलम्भन (=हिंसन) प्रवृत्त किया·········उससे अतिसार पूर्व उत्पन्न हुआ पृषध्र के यज्ञ में।

चरक के उक्त वर्णन से निम्न ५ बातें स्पष्ट हैं—

क—आदि काल (=कृतयुग) में यज्ञों में पशुओं की हिंसा नहीं होती थी।

ख—[मानवों में] सर्वप्रथम मनु के पुत्रों के यज्ञों में पशुओं का आलम्भन हुआ।

ग—'वेद में पशुओं के आलम्भन की आज्ञा है' यह मिथ्या ज्ञान ही इस निन्दनीय प्रवृत्ति का कारण हुआ।

घ—आङ् पूर्वक लभ और लम्भ ये मूलतः दो पृथक् धातु हैं[1]। 'आलभ' का मूल अर्थ है—प्राप्त करना, और 'आलम्भ' का अर्थ है—हिंसा।

ङ—गवालम्भ की प्रवृत्ति पृषध्र (यह मनुपुत्र पृषध्र से उत्तरकालिक पुरुरवा का पौत्र है) के काल में हुई।

(३) चरक के कथन की पुष्टि 'वसिष्ठ धर्मसूत्र' २१।२३ से भी होती है। उसमें लिखा है—

> त्रय एव पुरा रोगा ईर्ष्या अनशनं जरा।
> पृषध्रस्तनयं हत्वा अष्टानवतिमाहरेत्॥

यहां उत्तरार्ध का पाठ भ्रष्ट है। शुद्ध पाठ 'पृषध्रस्त्वघ्नियां हत्वा अष्टानवतिमाहरत्' होना चाहिये (देखो अगला उद्ध्रियमाण वचन)।

वसिष्ठ धर्म-सूत्र का भाव है—पहले [मानवों में] केवल तीन रोग थे—ईर्ष्या, क्षुधा और बुढ़ापा। पृषध्र ने गौ का हनन करके ९८ नए रोग उत्पन्न कर दिए।

(४) जैन आचार्य उग्रादित्यविरचित 'कल्याणकारण' वैद्यक-ग्रन्थ पृष्ठ (७२४) में भी इसी प्रसङ्ग का निर्देश उपलब्ध होता है। यथा—

> अवन्तिषु तथोपेन्द्रः पृषध्रो नाम भूपतिः।
> विनयं समतिक्रम्य गोश्चकार वृथा वधम्॥

अर्थात्—अवन्ति (=उज्जैन) में उपेन्द्र पृषध्र[2] नामक भूपति ने विनय का

---

१. द्र०—पूर्व पृष्ठ १३५ पर छपी पृष्ठ ८७ की टि० २।

२. मनु-पुत्र पृषध्र और पुरुरवा का पौत्र पृषध्र दोनों का सम्बन्ध अवन्ति अर्थात्

उलङ्घन करके गौ का वृथा वध किया।

(५) महाभारत शान्तिपर्व अ० २६५ में भी गवालम्भ से १०१ रोगों की उत्पत्ति का वर्णन मिलता है। यथा—

अघ्न्या इति गवां नाम क एता हन्तुमर्हति।
महच्चकाराकुशलं वृषं गां वाऽऽलभेत्तु यः ॥४७॥

ऋषयो यतयो ह्येतन्नहुषे प्रत्यवेदयन्।
गां मातरं चाप्यवधीर्वृषभं च प्रजापतिम् ॥४८॥

अकार्यं नहुषाकार्षीर्लप्स्यामहे त्वत्कृते व्यथाम्।
शतं चैकं च रोगाणां सर्वभूतेष्वपातयन् ॥४९॥

ऋषयस्ते महाभागाः प्रजास्वेव हि जाजले।
भ्रूणहं नहुषं त्वाहुर्न ते होष्यामहे हविः ॥५०॥

इन श्लोकों का भाव है—अघ्न्या (=न मारने योग्य) यह गौ का नाम है, इनको मारने में कौन समर्थ है? महान् हानिकारक कर्म किया, जो गौ और बैल का आलम्भन किया। ऋषियों ने नहुष से कहा—गौ माता और वृषभ प्रजापति का जो तुमने वध किया, तुम्हारे इस अकार्य कर्म से हम दुःख को प्राप्त होंगे। इससे सब भूतों में १०१ रोग प्रवृत्त होंगे। ऋषियों ने प्रजाओं के मध्य ही नहुष को भ्रूणहा कहा, और हम तेरा यज्ञ नहीं करायेंगे, ऐसा कहा।

महाभारत शान्तिपर्व अ० २६८ में भी नहुष को प्रथम गवालम्भक लिखा है। महाभारत के इन प्रसङ्गों की पूर्वलिखित संख्या २-४ के वचनों से तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है कि नहुष और पृषध्र एक ही व्यक्ति के नाम हैं। महाभारत के टीकाकार नीलकण्ठ ने पूर्वोद्धृत ४७वें श्लोक के चतुर्थ चरण का पाठान्तर "पृषध्रो गा लभन्निव" लिखा है। उससे भी इसी बात की पुष्टि होती है। (नीलकण्ठ की इस पाठान्तर की व्याख्या ठीक नहीं है)। महाभारत में १०१ रोगों का उत्पादक नहुष को लिखा है, और वसिष्ठ धर्मसूत्र में ९८ रोगों का प्रवर्तयिता पृषध्र को कहा है[1]। महाभारतोक्त १०१ रोगों में सम्भवतः वसिष्ठधर्म-सूत्रोक्त ईर्ष्या क्षुधा और

उज्जैन के साथ नहीं था। जैन आचार्य उग्रादित्य के लेख में अवन्ति का निर्देश कैसे हुआ, यह विचारणीय है।

१. ब्राह्मण धम्मसुत्त २७-२८ में इक्ष्वाकु को पशुयज्ञप्रवर्तक और गवालम्भ-प्रवर्तक लिखा है। और इसी गोघात से ९८ रोग उत्पन्न होने का उल्लेख किया है। हमारे विचार में यहां 'इक्ष्वाकु' के निर्देश में किसी कारण से भूल हुई है।

जरा इन तीन प्राचीन रोगों की संख्या भी सम्मिलित कर ली गई है। चरक संहिता के अनुसार ९८ नये रोगों में एक महान् रोग अतिसार था।

यह पृषध्र नाम किस नहुष का था ?

एक पृषध्र मनु का पुत्र, नाभाग इक्ष्वाकु शर्याति आदि का भ्राता था। वह पृषध्र गवालम्भ का प्रवर्तयिता नहीं हो सकता। क्योंकि चरक में गवालम्भप्रवर्तयिता पृषध्र को मनुपुत्र नाभाग इक्ष्वाकु शर्याति आदि से अवरकाल का लिखा है। इन प्रसङ्गों में पृषध्र नहुष का पर्याय है, यह ऊपर के प्रमाणों से स्पष्ट है। इतिहास में नहुष नाम के दो व्यक्ति उपलब्ध होते हैं। एक चन्द्रवंश में और दूसरा सूर्यवंश में (बाल्मीकीय रामायणानुसार)। महाभारत के 'नहुषः पूर्वमालेभे त्वष्टुर्गामिति नः श्रुतम्' (शान्ति ३६८।६) श्लोक में श्रुत 'त्वष्टा' द्वादश आदित्यों में एकतम है। अतः उसके साथ श्रुत नहुष चन्द्रवंश का नहुष (पुरुरवा का पौत्र) ही सम्भव हो सकता है। सूर्यवंश का नहुष बहुत उत्तरकालिक है, वह त्वष्टा का समकालिक नहीं हो सकता। इस विचार की पुष्टि उग्रादित्य के उपरिनिर्दिष्ट (संख्या ४) श्लोक से भी होती है। उसमें नहुष का विशेषण उपेन्द्र लिखा है। महाभारत उद्योगपर्व में लिखा है कि ब्रह्महत्या के भय से इन्द्र के छिप जाने पर देवों ने पुरुरवा के पौत्र नहुष को इन्द्र के स्थान पर अधिष्ठित किया (अ० ११)। इस सम्मान के मद से हतबुद्धि नहुष ने इन्द्राणी को अपनी भार्या बनाने की चेष्टा की (अ० ११।१७-१९), और ऋषियों से अपनी पालकी उठवाई (अ० १७।२५)। ऐसे हतबुद्धि व्यक्ति का गवालम्भ का प्रवर्तन करना अधिक सम्भव है।

यज्ञ में पश्वालम्भ के विधान के भ्रम के दो प्रधान कारण

प्रथम कारण—वेद में पशुहिंसा का विधान है, इस भ्रम के कारण ही यज्ञों में पशुहिंसा की प्रवृत्ति हुई। यह चरक के पूर्वोद्धृत 'पशूनामेवाभ्यनुज्ञानात्' वचन से, तथा उपरिचर वसु के 'संहितामन्त्रा हिंसालिङ्गाः' (वायु० ५७।१०७) कथन से स्पष्ट है। इस भ्रम के दो प्रधान कारण हैं। एक—अज आदि शब्दों के विभिन्न अर्थों का होना, और दूसरा—आलभ तथा आलम्भ क्रियाओं का सांकर्य होना।

अज शब्द के अर्थ में भ्रम

अज शब्द के दो अर्थ हैं। एक 'छाग'=बकरा, और दूसरा 'न उत्पन्न होनेवाला'। प्राचीन आगम ग्रन्थों में निर्दिष्ट 'अजैर्यष्टव्यम्' आदि वाक्यों में अज शब्द बकरे का वाचक है अथवा 'न उत्पन्न होनेवाले' अर्थ का, इसकी मीमांसा न करके 'योगाद्

रूढिर्बलीयसी' न्याय के अनुसार अज शब्द का अर्थ छाग समझने से यज्ञ में पशुहिंसा की प्रवृत्ति हुई। इस भ्रम पर निम्न प्रमाण विशेष प्रकाश डालते हैं—

क—महाभारत शान्तिपर्व अ० ३३७ में देवों और ऋषियों का एक संवाद उपलब्ध होता है। उसमें कहा है—

अजेन यष्टव्यमिति प्राहुर्देवाः द्विजोत्तमान्।
स च छागोऽप्यजो ज्ञेयो नान्यः पशुरिति स्थितिः॥

ऋषय ऊचुः

बीजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वै वैदिकी श्रुतिः।
अजसंज्ञानि बीजानि छागं नो हन्तुमर्हथ॥
नैष धर्मः सतां देवा यत्र वै वध्यते पशुः॥

अर्थात्—देवों ने कहा—'अज' से यज्ञ करना चाहिये, ऐसा विधान है। और वह अज भी छाग अर्थात् बकरा जानना चाहिये, अन्य पशु नहीं।

ऋषियों ने कहा – बीजों से यज्ञ करना चाहिये, यही वैदिकी श्रुति है। अज बीजों की संज्ञा है। इसलिये छाग का वध नहीं करना चाहिये। जहां पशु का वध होता है, वह सत्पुरुषों का धर्म नहीं है।

ख—यद्यपि इस प्रकरण में 'अजसंज्ञक' बीज कौनसे हैं, इस पर कुछ प्रकाश नहीं पड़ता, तथापि वायुपुराणान्तर्गत उपरिचर कथा में कहा है—

यज्ञ[1]बीजैः सुरश्रेष्ठ येषु हिंसा न विद्यते।
त्रिवर्षपरमं कालमुषितैरप्ररोहिभिः॥ ५७।१००,१०१॥

अर्थात्—हे सुरश्रेष्ठ! उन बीजों से यज्ञ करो, जिनमें हिंसा नहीं है। जो तीन वर्ष से अधिक पुराने, और [खेत में] उगने में असमर्थ हों।

वायुपुराण के इस श्लोक में 'अज' का अर्थ 'अप्ररोही' शब्द से दर्शाया है। इस वचन से यह भी ध्वनित होता है कि खेत में उगने योग्य धान्यों से भी यज्ञ करना अनुचित है।

ग—मत्स्य पुराण में इसी कथा के प्रसङ्ग में कहा है—

---

१. वायु तथा मत्स्य पुराण में 'यज्ञबीजैः' ही पाठ है। यहां 'यज बीजैः' पाठ होना चाहिए, अन्यथा क्रिया के अभाव में वाक्य अधूरा रहता है। तुलना करो—बीजैर्यज्ञेषु यष्टव्यम्—महाभारत का उपरिनिर्दिष्ट श्लोक।

यज्ञबीजैः सुरश्रेष्ठ त्रिवर्गपरिमोषितैः । १४३।१४।।

यहां 'त्रिवर्षपरमोषितैः' पाठ होना चाहिये।

घ—महाभारत और पुराणों में प्रतिपादित अज शब्द के तात्त्विक अर्थ का निर्देश जैनग्रन्थों में भी उपलब्ध होता है। स्याद्वादमञ्जरी में भी लिखा है—

'तथाहि किल वेदे 'अजैर्यष्टव्यम्' इत्यादिवाक्येषु मिथ्यादृशोऽजशब्दं पशुवाचकं व्याचक्षते। सम्यग्दृशस्तु जन्माप्रायोग्यं त्रिवार्षिकं यवव्रीह्यादि, पञ्चवार्षिकं तिल-मसूरादि, सप्तवार्षिकं कङ्कुसर्षपादि धान्यपर्यायतया पर्यवसायन्ति ।।'

श्लोक २३ की व्याख्या, पृष्ठ १०७,१०८।

अर्थात्—वेद के 'अजों से यज्ञ करना चाहिये' इत्यादि वाक्यों में मिथ्यादृश (=अज्ञानी) अज शब्द को पशुवाचक कहते हैं। सम्यग्दृश (=ज्ञानी) जन्म के अयोग्य तीन वर्ष के जौ व्रीहि आदि, पांच वर्ष के तिल मसूर आदि, सात वर्ष के कङ्कु सर्षप आदि धान्य के पर्यायरूप में परिणत करते हैं।

ङ—इसी की प्रतिध्वनि पञ्चतन्त्र में भी उपलब्ध होती है। वहां लिखा है—

'एतेऽपि याज्ञिका यज्ञकर्मणि पशून् व्यापादयन्ति ते मूर्खाः परमार्थं श्रुतेर्न जानन्ति। तत्र किलैतदुक्तम्—'अजैर्यष्टव्यम्।' अजा व्रीहयः सप्तवार्षिकाः कथ्यन्ते, न पुनः पशुविशेषः।'

अर्थात्—ये याज्ञिक भी यज्ञकर्म में पशुओं को मारते हैं, वे मूर्ख वेदवचन के ठीक अर्थ को नहीं जानते। वेद में कहा है—'अजों से यज्ञ करना चाहिये।' अज सात वर्ष पुराने व्रीहि कहे जाते हैं, न कि पशुविशेष (=बकरा)।

इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि जिन प्राचीन यज्ञागमों में 'अजैर्यष्टव्यम्' ऐसा विधान था, वहां भी अज का अभिप्राय खेत में उगने के अयोग्य पुराने धान्यों से था, बकरों से नहीं। परन्तु उत्तरकाल में जब भ्रान्ति से इस वचन में अज का अर्थ बकरा समझा गया, तब उस भ्रान्ति से यज्ञ में पशु की हिंसा प्रारम्भ हुई।

अवि गौ अश्व आदि अन्य शब्दों के अर्थों में भी भ्रान्ति

जिस प्रकार 'अज' शब्द के अर्थ में भ्रान्ति होने से यज्ञ में बकरे की हिंसा प्रवृत्त हुई, उसी प्रकार अवि गो अश्व आदि शब्दों के वास्तविक अर्थों का ज्ञान न होने से यज्ञों में अवि=भेड़, गो और घोड़े आदि की हिंसा आरम्भ हुई। वैदिक यज्ञप्रकरण में अवि शब्द का क्या तात्पर्य है, यह हम पूर्व तैत्तिरीय संहिता के प्रमाण से स्पष्ट कर चुके हैं। इसी प्रकार गो और अश्व भी मूलतः वैदिक=आधिदैविक यज्ञ में गो

=पृथिवी तथा अश्व=सूर्य के वाचक हैं, पार्थिव प्राणियों के नहीं। यतः मूल आधि-दैविक यज्ञों में इन देवपशुओं=आकाशीय प्राकृत पदार्थों का आलम्मन=हिंसन नहीं हुआ, अतः उनकी अनुकृति पर रचे गये पार्थिव द्रव्यमय यज्ञों में भी इन पार्थिव प्राणियों की हिंसा नहीं होनी चाहिए।

दूसरा कारण यज्ञ में पश्वालम्भन की प्रवृत्ति का है—

आलभ और आलम्भ क्रियाओं का सांकर्य

पाणिनि तथा सम्भवतः उससे कुछ पूर्वकाल में शुद्ध लम्भ धातु के तिङन्त के प्रयोग संस्कृतभाषा में उच्छिन्न हो चुके थे। अतः उस काल के वैयाकरणों ने लम्भ धातु का संग्रह धातुपाठ में नहीं किया, और लम्भ से निष्पन्न शब्दों का सम्बन्ध लभ धातु से ही जोड़ दिया। इस कारण आलभ और आलम्भ ये समानार्थक हैं, ऐसी मिथ्या धारणा प्रचलित हो गई। इसी धारणा के अनुसार यजुर्वेद अ० ३० के उप-संहार[1] में श्रूयमाण 'अथैतानष्टौ विरूपानालभते' वचन में 'आलभते' का अर्थ आलम्भन =मारना समझा गया। और उसके अनुसार पुरुषमेध में इस (३०वें) अध्याय में उक्त ब्राह्मण आदि प्राणियों की हिंसा प्रवृत्त हुई।

लभ और लम्भ के पार्थक्य में प्रमाण

वैयाकरणों द्वारा धात्वादिक में आगम आदेशादि के द्वारा जिन शब्दों का सम्बन्ध एक धातु से जोड़ा गया है, वे सभी प्रयोग वस्तुतः उसी एक धातु से निष्पन्न हैं, अथवा मूलतः उनकी धातु एक से अधिक हैं, इसके निर्णय के लिये महाभाष्यकार पतञ्जलि ने एक कसौटी बताई है—

'वैयाकरणों ने जिन शब्दों में जिन निमित्तों में आगम आदेशादि विधान किया है, वे कार्य उन निमित्तों के होने पर भी किन्हीं शब्दों में न हों, और जहां उक्त निमित्त न हों, वहां भी देखे जायें।' यथा—

'बृंहेरच्यनिटि। बृंहेरच्यनिटि उपसंख्यानं कर्तव्यम्। निबर्हयति, निबर्हकः। अचि इति किमर्थम्? निबृंह्यते। अनिटि इति किमर्थम्? निबृंहिता, निबृंहितुम्।

1. तैत्तिरीय ब्राह्मण (३।४।१) में आलभते क्रिया का सम्बन्ध प्रथम वाक्य 'ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभते' से जोड़ा है। उसका अगले वाक्यों में अनुषङ्ग होता है। माध्यन्दिन पाठ के अनुसार उपसंहार में श्रूयमाण क्रिया का पूर्व सभी वाक्यों में सम्बन्ध होता है।

तत्तह्यु॑पसंख्यानं कर्तव्यम् ? न कर्तव्यम् ? वृहिः प्रकृत्यन्तरम् । कथं ज्ञायते ? अचीति लोप उच्यते, अनजादावपि दृश्यते—निवृह्यते । अनीटीत्युच्यते, इडावावपि दृश्यते—निबर्हिता, निबर्हितुम् । अजादाविरयुच्यतेऽजादावपि न दृश्यते—निबृंहयति निबृंहकः ॥' महाभाष्य १।१।४॥

अर्थात्—इड्भिन्न अजादि प्रत्यय परे रहने पर 'बृंह' के अनुनासिक का लोप होता है। यथा—निबर्हयति, निबर्हकः। 'अचि' क्यों कहा ? 'निबृंह्यते' यहां 'यक्' परे लोप न हो। 'इड्भिन्न के परे' क्यों कहा ? 'निबृंहिता, निबृंहितुम्' यहां इट् परे लोप न हो। तो यह वार्तिक बनाना चाहिये ? नहीं बनाना चाहिये। क्योंकि 'वृह' प्रकृत्यन्तर=धात्वन्तर है [उससे ये रूप बन जायेंगे]। कैसे जाना जाए [वृह धात्वन्तर है ?]। वार्तिक में अच् परे रहने पर लोप कहा है, परन्तु अनजादि (अजादिभिन्न हलादि) प्रत्यय परे भी अनुनासिकलोप देखा जाता है। यथा—'निवृह्यते।' इट् परे रहने पर नहीं होता ऐसा कहा है, परन्तु इडादि में भी लोप देखा जाता है। यथा—'निबर्हिता, निबर्हितुम्।' अजादि में लोप कहा है, परन्तु अजादि में भी नहीं देखा जाता। यथा—'निबृंहयति, निबृंहकः।'

महाभाष्य के इस उद्धरण से प्रकृत्यन्तर=धात्वन्तर कल्पना करने का नियम स्पष्ट है[1]। इसी नियम के अनुसार हम वैयाकरणों द्वारा लभ धातु से सम्बद्ध प्रयोगों के नियमों की परीक्षा करेंगे।

पाणिनि ने दो सूत्र रचे हैं—

(१) लभेश्च; (२) आङो यि ॥ ७।१।६४,६५॥

अर्थात्—(१) लभ धातु को शप् और लिट् भिन्न अजादि प्रत्यय के परे रहने पर नुम् का आगम होता है। यथा—लम्भयति, लम्भकः।

(२) आङ् से उत्तर लभ धातु को यकारादि प्रत्यय परे रहने पर नुम् का आगम होता है। यथा—आलम्भ्या गौः, आलम्भ्या वडवा।

प्रथम नियम के अनुसार लभ धातु से 'अनीयर्' प्रत्यय के परे रहने पर नुम् होकर 'लम्भनीय' प्रयोग होना चाहिये, परन्तु चरकसंहिता (११।४) के पूर्वोद्धृत

---

१. महाभाष्य में लोप आगम आदेश के द्वारा अनेक स्थानों में प्रकृत्यन्तर विधान का निर्देश मिलता है। यथा महाभाष्य १।१।४; ३।१।३४; ३।१।७८; ३।२।१३५; ४।१।३५; ४।१।६७; ४।२।२; ४।३।२२; ५।२।२६; ६।१।६०; ६।३।३५; ६।४।२४; ७।३।८७॥

(पृष्ठ ३७९) पाठ में समालभनीयाः प्रयोग में नुम् का अभाव देखा जाता है ।

दूसरे नियम के अनुसार 'यत्' प्रत्यय में 'आलम्भ्या' प्रयोग होना चाहिये, परन्तु 'अग्निष्टोम आलभ्यः' [काशिका १।१।७५ में उद्धृत] प्रयोग में नुम् का अभाव उपलब्ध होता है ।

इस व्यत्यास से स्पष्ट प्रतीत होता है कि मूलतः लभ और लम्भ धातु पृथक्-पृथक् हैं । पाणिनीय व्याकरण से प्राचीन काशकृत्स्न धातुपाठ में डुलभष् प्राप्तौ (१।२६४), और लभि धारणे (१।३६२) दोनों स्वतन्त्र धातुएं पढ़ी हैं[1] । और इनके रूप भी क्रमशः लभते लभनम्, तथा लम्भति लम्भनम् पृथक्-पृथक् दर्शाये हैं ।

लभ और लम्भ में अर्थभेद

यतः 'लभ' और 'लम्भ' दोनों स्वतन्त्र पृथक्-पृथक् धातुएं हैं । अतः इनके अर्थ में भी कुछ न कुछ अन्तर अवश्य होना चाहिये । इस अन्तर की पुष्टि 'चरक' के पूर्वोद्धृत (पृष्ठ ३७९ में) 'आदिकाले यज्ञेषु पशवः समालभनीया बभूवुः, नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म' इस वाक्य से भी होती है । यदि एक ही अर्थ होता तो दो क्रियाओं का पृथक्-पृथक् निर्देश न होता । काशकृत्स्न धातुपाठ में लभ और लभि=लम्भ के पृथक्-पृथक् अर्थ हैं, यह हम ऊपर दर्शा चुके हैं ।

लभ के अर्थ

१ प्राप्ति अर्थ—

क—लभ धातु का अर्थ पाणिनीय तथा काशकृत्स्नीय दोनों धातुपाठों में 'प्राप्ति' लिखा है—'डुलभष् प्राप्तौ' ।

ख—काशिका ७।१।६५ में उद्धृत 'अग्निष्टोम आलभ्यः' वाक्य में भी 'आलभ' का अर्थ प्राप्त करना है ।

२. स्पर्श अर्थ—

क—उपनयन तथा विवाह-प्रकरण में श्रूयमाण—

'दक्षिणांसमधिहृदयमालभते' (पारस्कर गृह्य) वाक्य में 'आलभते' का स्पष्ट अर्थ 'स्पर्श' ही है ।

ख—सुश्रुत कल्पस्थान अ० १, श्लोक १९ के—

---

१. द्र०—हमारे द्वारा संस्कृत-रूपान्तरित 'काशकृत्स्न-धातुव्याख्यानम्' पृष्ठ ९४, ५८ ।

आलभेतासकृद्दीक्ष्ः करेण च शिरोरुहान् ।

यहां भी 'आलभेत' का अर्थ स्पर्श ही है ।

लम्भ के अर्थ

१. हिंसा अर्थ—

चरक के पूर्व (पृष्ठ ३७६ में) निर्दिष्ट वाक्य 'नालम्भाय प्रक्रियन्ते स्म' में 'आलम्भ' का अर्थ हिंसा है, यह पूर्वनिर्दिष्ट 'समालभनीयाः' पद के प्रतिद्वन्द्वीरूप में प्रयुक्त होने से स्पष्ट है ।

२. स्पर्श अर्थ—

कहीं-कहीं 'आलम्भ' का प्रयोग स्पर्श अर्थ में भी देखा जाता है । यथा—

कुमारं जातं···पुरा अन्यैरालम्भात् ।। आश्व० गृह्य ।।

स्त्रीप्रेक्षणालम्भने मैथुनशङ्कायाम् ।। गौतम धर्म० २।२२।।

इन उदाहरणों में 'आलम्भ' का अर्थ 'स्पर्श' के अतिरिक्त और कुछ सम्भव ही नहीं है ।

३. धारण अर्थ—

काशकृत्स्न-धातुव्याख्यान १।३६२ में लभि='लम्भ' का धारण अर्थ कहा है ।

इन प्रयोगों से इतना स्पष्ट है कि आलभ और आलम्भ दोनों स्पर्श अर्थ में समानार्थक हैं । परन्तु आलभ का कहीं भी हिंसा अर्थ नहीं है[1] । 'आलम्भ्या गौः' इत्यादि प्रयोगों में 'आलम्भ्या' का अर्थ स्पर्श हो सकता है । अथवा यह भी सम्भव है कि इन वचनों में 'आलम्भ्या' का अर्थ हिंसन ही हो, और यह वचन उत्तरकालीन हो । जो कुछ भी हो, इस प्रकरण से यह तो पूर्णतया स्पष्ट हो गया कि वेद तथा ब्राह्मणों में जहां-कहीं भी आलभ अर्थात् आङ्पूर्वक लभ धातु का प्रयोग है, वहां सर्वत्र इसका मूल प्राचीन अर्थ 'प्राप्ति' अथवा 'स्पर्श' ही है । उत्तरकालीन व्याख्यान-कारों ने अथवा लेखकों ने आलभ और आलम्भ को समानार्थक समझकर 'आलभते' आदि का हिंसन अर्थ किया है, वह सर्वथा अप्रामाणिक है । महीधर ने आलभते का अर्थ नियुनक्ति किया है । द्र०—यजुः० २४।२०।।

---

१. निरुक्त १।१४—'नामधेयप्रतिलम्भमेकेषाम्'; तथा कठोपनिषद् १।१।२५—'नहीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः' में लम्भ का प्राप्ति अर्थ देखा जाता है ।

यजुर्वेद अ० ३० की समस्या का समाधान

याज्ञिक पद्धति के अनुसार यजुर्वेद का ३०वां अध्याय पुरुषमेध में विनियुक्त है। तदनुसार इसके ५वें मन्त्र से अन्त तक विविध देवताओं के लिये ब्राह्मण क्षत्रिय आदि विभिन्न प्रकार के पुरुषों के आलम्भन का निर्देश है। इस प्रकरण के अन्त में (मन्त्र २२) आलभते क्रिया का निर्देश है, वह सम्पूर्ण प्रकरण का शेष है। अतः आलभते क्रिया का ब्रह्मणे ब्राह्मणम्, क्षत्राय राजन्यम् आदि प्रत्येक वाक्य के साथ सम्बन्ध है। याज्ञिक पद्धति के अनुसार आलभते का अर्थ संज्ञपन=हिंसन किया जाता है।

हमारी उपर्युक्त मीमांसा के अनुसार यहां भी 'आलभते' का अर्थ संज्ञपन=हिंसन नहीं हो सकता (क्योंकि संज्ञपनार्थक आलम्भ पृथक् धातु है)। इस दृष्टि से सम्पूर्ण अध्याय पर विचार करने से इस अध्याय का अर्थ बहुत ही सुन्दर और शिक्षाप्रद प्रतीत होता है। हमारे विचार में इस अध्याय में किस व्यक्ति से क्या प्राप्त करे, किस प्रकार का ज्ञान सीखे, इस विषय का वर्णन है। इसमें श्रेष्ठतम व्यक्ति से लेकर निन्दिततम व्यक्ति से भी उपयोगी ज्ञान प्राप्त करने की प्रेरणा है। इस सम्पूर्ण अध्याय की व्याख्या हम किसी और समय प्रकाशित करेंगे[1]। इस समय तो हमने प्रसङ्गात् इस अध्याय की ओर संकेतमात्र कर दिया है।

उपसंहार

हमने इस लेख में संक्षेप से श्रौतयज्ञ-सम्बन्धी 'पश्वालम्भन' पर विचार करते हुए निम्न विषयों पर प्रकाश डाला है—

१—श्रौतयज्ञ आकाशीय पदार्थों की विभिन्न क्रियाओं के निदर्शन (=प्रत्यक्षीकरण) के लिये कल्पित किये गये हैं। अर्थात् श्रौतयज्ञ आकाशीय दैव और आसुर यज्ञों के प्रतिनिधिभूत हैं।

२—सर्गकाल में आसुर यज्ञों में कुछ पदार्थों का हिंसन=नाश होता है। उन्हीं के प्रतिनिधिभूत पशुयज्ञों में श्रौतयज्ञों के नाटकस्थानीय होने से उनमें पशु का वध नहीं होता, अपितु पर्यग्निकरण के पश्चात् उनका उत्सर्ग होता है।

३—पशुयज्ञों की 'पशुबन्ध' संज्ञा भी इसमें प्रमाण है कि पशुओं का यूप में

---

१. इसी अध्याय के 'दुष्कृताय चरकाचार्यम्' (१८) मन्त्रांश की अद्भुत व्याख्या के लिये देखिये इसी संग्रह में पूर्व पृष्ठ १७९-१९१ पर मुद्रित 'दुष्कृताय चरकाचार्यम्' नामक निबन्ध।

बन्धनमात्र होता था, उनका वध नहीं होता था। अन्यथा इनकी संज्ञा 'पशुवध' होनी चाहिये।

४—मानव सृष्टि के प्रारम्भ में निरामिषभोजी था। उसने बहुत काल पश्चात् मांसाहार स्वीकार किया।

५—आदिकाल में श्रौतयज्ञों में पश्वालम्भन नहीं होता था।

६—उत्तरकाल में वास्तविक वेदार्थ के अपरिज्ञान के कारण पशुहिंसा की प्रवृत्ति हुई।

७—सब से प्रथम पश्वालम्भ इन्द्र के अश्वमेध में हुआ।

८—यज्ञ में गवालम्भ का आरम्भ पृषध्र अपर नाम नहुष से हुआ।

९—ऋषियों ने इन्द्र और नहुष को बहुत समझाया। पर दोनों ने ऐश्वर्य के मद के कारण अकिंचन ऋषियों के कथन पर ध्यान नहीं दिया।

१०—गवादि पश्वालम्भ से प्रजाओं में ९८ नये रोग उत्पन्न हुए।

११—उत्तरकाल में ऋषियों के बहुधा प्रयास करने पर भी मानव समाज में मांसाहार की प्रवृत्ति बढ़ी। इस प्रकार यज्ञों में पशुबलि की वृद्धि हुई। अत एव उत्तरकालीन प्रायः सभी ग्रन्थों में आपाततः किसी न किसी प्रकार पशुबलि का विधान उपलब्ध होता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि वेद में यज्ञों में पश्वालम्भ का निर्देश तो दूर रहा, उसमें इन पार्थिव द्रव्यमय यज्ञों का ही वर्णन नहीं है। उसमें जहां-कहीं भी यज्ञों का वर्णन है, वह उन आधिदैविक यज्ञों का है, जिन्हें आधिदैविक देव वा असुर ब्रह्माण्ड में सतत कर रहे हैं। जब इन आधिदैविक यज्ञों की अनुकृति पर यज्ञ रचे गए, और उनमें भी उत्तरकाल में वेद के अभिप्राय को न समझने के कारण जब पशु आलम्भन होने लगा, उनके अनुसार यज्ञपद्धतियों के ग्रन्थ लिखे गए, और इस विकृत यज्ञ-प्रक्रिया के अनुसार वेदार्थ किया जाने लगा, तब वेद में पश्वालम्भ की प्रतीति होने लगी। वस्तुतः वेद के उन-उन शब्दों का यह वास्तविक अभिप्राय ही नहीं है। हमने प्रसङ्गात् अविमेध के वास्तविक स्वरूप पर प्रकाश डाला है। वह भी अपनी ओर से नहीं, अपितु ब्राह्मणवचनों के आधार पर। वस्तुतः जब इसी दृष्टि से वेद के इस प्रकार के सभी प्रकरणों पर विचार किया जायेगा, तभी वेद के वास्तविक रहस्य खुलेंगे। अन्यथा वे छिपे ही रहेंगे।

पशुयज्ञों में पशुओं का वध होता है वा नहीं, हमने इस विषय का विस्तृत वर्णन मीमांसा-शाबरभाष्य-व्याख्या के आरम्भ में 'श्रौतयज्ञ-मीमांसा' शीर्षक उपोद्घात में किया है।

———